मति-ग्रन्थ-रत्नमाला का ६६ वाँ रत्न

जैन इतिहास
की
प्राचीन कथाएँ

—उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

जैन साहित्य कथामाला भाग २

पुस्तक :
जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ

लेखक :
उपाध्याय अमर मुनि

संपादक :
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा–२

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामंडी आगरा

प्रथम बार :
फरवरी १९६७

मूल्य :
एक रुपया

प्रकाशकीय

जैनसाहित्य-कथा माला का यह द्वितीय भाग 'जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ' पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

कुछ समय हुआ, जब माला का प्रथम भाग 'भगवान महावीर की बोध कथाएँ' प्रकाशित हुई थी। अमर-साहित्य के विज्ञ पाठकों के अतिरिक्त जन-साधारण में वह पुस्तक इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई है कि बराबर उसकी माँग आती जा रही है और साथ में उसके अगले भागों की भी। पत्र-पत्रिकाओं ने, साहित्यकारों और विद्वानों ने उसका जो स्वागत किया है वह अत्यन्त उत्साहजनक है।

उपाध्याय कवि श्री अमरमुनि जी की बहु-प्रसवा लेखिनी ने लगभग कथा-साहित्य का आलोडन करके रख दिया है, और हम प्रयत्न करते हैं कि उसको यथाशीघ्र पाठकों की सेवा में पहुँचाया जाय। कथामाला का तीसरा भाग जैन इतिहास की प्रेरक कथाएं' भी प्रेस में जा चुका है, आशा है वह भी शीघ्र ही आपकी सेवा में प्रस्तुत हो जायेगा।

—सोनाराम जैन
मंत्री
सन्मति ज्ञान पीठ

अपनी बात

अतीत और अनागत को वर्तमान में उपस्थित करने का सर्वाधिक रोचक और प्रभावशाली माध्यम है—कहानी !

मानव सभ्यता के आदिकाल से आज तक कहानी की लोकप्रियता और उपयोगिता ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है।

औपनिषदिक तत्व-ज्ञान की धारा कहानी के कूलों में आबद्ध होकर वही। महाभारत और रामायण के संस्कर्ता व्यास और वाल्मीकि ने भारतीय संस्कृति एवं इतिहास के प्राण-तत्वों को कहानी में प्रतिष्ठित करके अमरता प्रदान की। महावीर और बुद्ध ने अध्यात्म और सदाचार के बोध-बीज को रूपक एवं कथा के माध्यम से जन-मानस में पल्लवित, पुष्पित करने का प्रयत्न किया। और उत्तरवर्ती हजारों आचार्यों, विद्वानो एवं कवियों ने जीवन के असंख्य प्रतिबिम्बों को कहानी की तूली से सँवार कर प्रस्तुत किया है, करते रहे हैं, और कर रहे हैं।

विश्व के कथा-साहित्य में भारतीय कथा साहित्य का अपना विशिष्ट महत्व है, और वही महत्व भारतीय कथा-साहित्य में, जैनकथा-साहित्य का है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के महाकाय ग्रन्थ जब खोलकर देखने का अवसर मिलेगा तो आप चकित होकर देखते रह जाएँगे—कि तत्व-ज्ञान, उपदेश, नीति, इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और लोक-व्यवहार के असंख्य-असंख्य प्रतिविम्ब किस

चमत्कारी ढंग से वहाँ अंकित हुए हैं, जिन में आज भी जीवन की उदात्त प्रेरणाएँ मुखरित हो रही हैं। दुर्भाग्य है तो यही कि उन प्रतिबिम्बों की भाषा आज अतीत की भाषा बन गई है, और हम कंजूस के खजाने की तरह उन्हें ज्ञान भण्डारों एवं पुस्तकालयों में सुरक्षित रखकर पहरा दे रहे हैं। युग की भाषा शैली में प्रस्तुत करने की बात तो नम्बर दो पर है, पहली बात तो यही है कि हम उस प्रकाश को अपने घेरे से बाहर निकलने ही नहीं देते। यही अनुदारता हमारे साहित्यिक स्रोतों को सुखा रही है, अमूल्य ज्ञान संपत्ति को नष्ट कर रही है।

कुछ समय से जैन कथा साहित्य के अनुशीलन का एक संकल्प जागृत हुआ था। तदनुसार कथा के मूल अभिप्रायों को उद्घाटित कर वर्तमान की भाषा में प्रस्तुत करने का निश्चय किया और शीघ्र ही वह कार्य प्रारम्भ भी कर दिया।

प्रथम भाग के रूप 'भगवान महावीर की बोध कथाएँ' आईं। अब दूसरे भाग के रूप में 'जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ, प्रस्तुत हो रहीं है। भगवान आदिनाथ के युग से लेकर भगवान नेमिनाथ के युग तक की कुछ प्रमुख कहानियाँ इस संकलन में आई है। अनेक घटनायें अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण इस संकलन में नहीं ली गई है। उन्हें अन्यत्र दिया जा सकेगा।

श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ कथा-स्रोत एक-दूसरे से भिन्न चलते हैं, और कुछ एक-दूसरे के पूरक भी है। इससे कथासूत्र के विकास की एक सामान्य-सी झाँकी भी मिल जाती है। यह भी प्रयत्न रहा है कि प्रत्येक कथा के

साथ उसके मूल-कथा-ग्रन्थ का भी उल्लेख होता रहे। कुछ कथाएँ परम्परा से अत्यन्त प्रचलित हैं, ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी है, पर जब उनके मूल-स्रोत का अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ तो श्रुति-परम्परा के अतिरिक्त उनका और कोई समाधान नहीं मिल सका। ऐतिहासिकता के प्रतिबन्ध में पड़कर हमने उन्हें छोड़ने की भूल नहीं की, चूँकि उनकी अभिव्यंजना जीवन के प्रति इतनी मौलिक और उदात्त थी कि ग्रन्थाधार के न मिलने पर भी उसका मूल्य किसी प्रकार कम नहीं हो सकता। उदाहरण के रूप में 'चक्रवर्ती भरत का जीवन दर्शन।'

इस भाग की चौदह कथाएँ—जैन इतिहास से सम्बन्धित कथाएँ हैं। प्रत्येक कथा में अपनी मौलिक प्रेरणा है, एक जीवंत आदर्श है। मुझे विश्वास है कि इन कथाओं के माध्यम से हम अपनी संस्कृति के महान आदर्शों का प्रतिविम्ब देख सकेंगे। देखने के लिए दृष्टि तो अपनी होनी ही चाहिए। पराई दृष्टि से देखने पर सम्भवतः आपको वे आदर्श न भी दिखाई दें, जिनको मैंने देखने का प्रयत्न किया है।

मैं आशा करता हूँ कि पिछले भाग की तरह यह भाग भी प्रबुद्ध पाठकों की ज्ञान पिपासा को परितृप्त करेगा।

वसन्त पञ्चमी
१४ फरवरी ६७
आगरा

—उपाध्याय अमर मुनि

संकेतिका
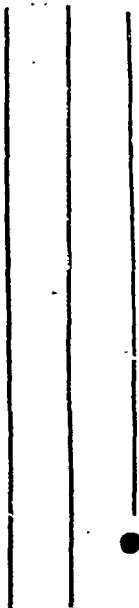
जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ

श्री जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी संघ
कुंभारहर, बीकानेर

भरतेश का अपूर्व भक्तियोग

१

महाराज भरत की राजसभा विद्वत्सभा का रूप ले रही थी। मंत्री, पुरोहित एवं अन्य अनेक राज्य-अधिकारी महाराज के साथ गंभीर तत्त्व-चर्चा करने में लीन थे। जड़-चैतन्य का भेद-विज्ञान, आत्मा-परमात्मा का अद्वैत, निमित्त उपादान और ध्यान-योग जैसे दार्शनिक विषयों पर जब महाराज अपना गंभीर चिन्तन देते, तो श्रोता, अयोध्या के राज-सिंहासन पर भरत को एक सम्राट के रूप में नहीं, बल्कि राजर्षि के रूप में देखने लग जाते।

विशाल साम्राज्य के सिंहासन पर बैठकर महाराज जब अध्यात्म की ऊँची से ऊँची उड़ान भरते भरते प्रसंगानुसार क्षणमात्र में व्यवहार की भूमिका पर भी कुशलता-पूर्वक लौट आते, और पुनः दूसरे ही क्षण अध्यात्म की ऊँची उड़ान पर पहुँच जाते, तो ऐसा

लगता था कि कोई सिद्ध-हस्त विद्याधर अपने विमान की तीव्र गति से एक ही क्षण में धरती और आकाश की परिधियों को नापता चला जा रहा है।

भरत का यह जीवन-दर्शन अपने आप में एक बड़ा ही विलक्षण एवं अध्यात्म से अनुप्राणित एक आदर्श दर्शन बन कर खडा था।

एक बार की बात है कि राजर्षि भरत सभासदों के साथ किसी गम्भीर तत्त्व-ज्ञान की पावन गंगा में डुबकियाँ लगा रहे थे, कि सहसा राज्य के तीन प्रमुख अधिकारी एक ही साथ, हर्षविह्वल मुद्रा में 'महाराज भरत की जय'—बोलते हुए सभाद्वार पर उपस्थित हुए।

राजर्षि भरत प्रश्न-भरी दृष्टि से अधिकारियों की हर्षविभोर मुखमुद्रा को पढ़ने लगे। सभासदों की उत्सुक आँखें भी प्रश्न पर प्रश्न लिए अधिकारियों के प्रस्फुटित होते मुख-कमल की ओर उन्मुख हो गईं।

राज्य का धर्माधिकारी पुरुष आगे बढ़ा। राजर्षि का अभिवादन करते हुए बोला—"महाराज! अत्यन्त मंगलमय शुभ संवाद है। विनीता—अयोध्या नगरी के उद्यान में विराजमान सुर-नर-पूजित परमपिता श्री

ऋषभ देव जी को जीवन की चरमसिद्धिरूप परम ज्योतिर्मय केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है।"

राजर्षि की आँखों में हर्ष और उल्लास की उच्छल तरंगें लहराने लग गईं। प्रकृति ने वायुमंडल में जैसे प्रसन्नता का गुलाल उड़ा दिया हो, सभासदों के चेहरों पर प्रसन्नता की गुलाबी आभा चमक उठी।

हर्षानुभूति की अतिवेगवती धारा में प्रवहमान राजर्षि ने आयुध-शाला के अधिकारी की ओर भी देखा—"कहो, क्या है ?"

"देव! महाराज के परम पुण्योदय से आयुधशाला में देवाधिष्ठित चक्ररत्न प्रकट हुआ है।" शस्त्रागार के रक्षक अधिकारी ने प्रसन्नता में झूमते हुए महाराज को बधाई दी।

महाराज भरत इस संवाद पर कुछ गंभीर हो गये। किन्तु मंत्री, पुरोहित और अधिकारियों की आँखों में अद्भुत् शौर्य के डोरे चमक उठे। भुजाएँ फड़क उठीं। चक्रवर्ती भरत के गगनभेदी जय-घोषों से विराट सभाभवन सहसा प्रकम्पित हो उठा।

तभी अन्तःपुर के अधिकारी कंचुकी ने आँखें मटकाते हुए हर्ष-विभोर होकर निवेदन किया—"महा-

राज, बधाई है ! सौभाग्य-शालिनी राजमहिषी ने शुभ मुहूर्त में पुत्ररत्न को जन्म दिया है ।"

महाराज भरत के ओठों पर हल्की-सी मुस्कराहट दौड़ गई । सारी सभा जैसे हर्ष में नाच उठी । चारों ओर बधाइयों की बौछार ! खुशी के कह-कहे !

बन्दीजन महाराज के भाग्य की प्रशस्तियां गाने लगे । मंगल-पटह बज उठे । शंखध्वनियों से वातावरण गूंज उठा । जन-सागर में हर्ष और उल्लास की उन्मत्त लहरें एक छोर से दूसरे छोर तक मचल गईं ।

तभी महाराज भरत प्रशान्त-मुद्रा में राजसिंहासन पर खड़े हुए और स्निग्ध मधुर वाणी में बोले—"शान्त! आज के इस महान् मंगलमय उत्सव का सर्वप्रथम समारोह, यहाँ न होकर, पूज्य पिता श्री ऋषभ देव जी के चरणों में होगा ।"

महाराज की गंभीर वाणी के साथ ही वातावरण शान्त हो गया । राजर्षि ने जन-समुदाय के हर्षोद्रेक को संयत करते हुए स्पष्टीकरण किया—"आज एक साथ तीन बधाइयाँ प्राप्त हुई हैं—परम पिता का केवल ज्ञान, चक्र रत्न की उत्पत्ति, और पुत्र का जन्म ! पुत्र और चक्र रत्न की प्राप्ति पुण्य का फल

है। परन्तु पुण्य से भी महान है धर्म का दिव्य प्रकाश। धर्म सब पुरुषार्थों का मूल है। धर्म के बिना पुरुष के सब अर्थ अनर्थ हैं, बन्धन हैं। एकमात्र धर्म ही बन्धन-मुक्ति का हेतु है। इस लिए हम पहले पुण्य-फल की नहीं, धर्म की उपासना करेंगे। पुण्य और उसके फल के प्रसंग तो अनंत-अनंत बार प्राप्त होते रहे हैं, होते रहेंगे। किन्तु धर्म की आराधना का अवसर जीवन में कभी-कभी ही प्राप्त होता है। अतः हम लोग सर्वप्रथम भगवान ऋषभ देव के दर्शन करेंगे और कैवल्य-महोत्सव मनायेंगे।"

प्रजाजनों का उफनता हुआ हर्षोद्रेक शान्त रसकी प्रशान्त धारा में बह चला।

महाराज भरत अपने अनुज, रानियाँ, राज-परिवार, राज्य-अधिकारी, विशाल सेना एवं नाग-रिकों से परिवृत होकर हर्ष-विह्वल हुए भगवान ऋषभ देव के समवसरण में पहुँचे।

स्वर्ग के असंख्य-असंख्य देवी देवता पुष्पवृष्टि करते हुए, युग के आदि तीर्थंकर का कैवल्य महोत्सव मनाने, गगनतल से धरातल पर उतरे आ रहे थे।

स्वर्ग के अधिपति देवराज इन्द्र ने और भरत

खण्ड के होनहार प्रथम चक्री भरत ने हर्ष-विभोर होकर प्रभु का कैवल्य-महोत्सव मनाया। देवराज इन्द्र की श्रद्धा-स्निग्ध भक्ति कुछ कम नहीं थी, किन्तु संसार की महान् भौतिक उपलब्धियों के आनन्द को आध्यात्मिक आनन्द से पराजित करने जैसा भरत का अपूर्व आदर्श कहाँ था देवराज की भक्ति में ? इसी लिए भरतेश की भक्ति इस युग की सर्वोत्कृष्ट निष्काम भक्ति थी, जो आज भी इतिहास के पृष्ठों को उजागर कर रही है।

—आदि पुराण (आचार्य जिनसेन), पर्व २४

—चउप्पन्नमहापुरिस चरियं (आचार्य शीलांक)

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित (आचार्य हेमचन्द्र), पर्व १ सर्ग ३

विशेष—

चउप्पन्नमहापुरुष चरियं और त्रिषष्टि शलाका में भगवान ऋषभ देव का केवल ज्ञानोत्पत्ति-क्षेत्र पुरिम ताल नगर का शकटानन उद्यान बताया है। उक्त ग्रन्थों में पुत्र जन्म के सम्वाद का उल्लेख नहीं हैं, शेष दो संवाद का उल्लेख है।

चक्रवर्ती का अभिमान गल गया

२

समस्त भरत-खण्ड की दिग्-विजय करते हुए चक्रवर्ती भरत वृषभाचल (ऋषभ कूट) पर्वत पर पहुँचे। स्फटिक से उज्ज्वल श्वेत प्रस्तरों के गगन-चुम्बी ऊँचे शिखर, और उन पर पड़ते हुए सूर्य किरणों के प्रतिबिम्ब विचित्र चमक और मोहक आभा लिए ऐसे लग रहे थे, मानो गंधर्व और किन्नरों की सुन्दरियाँ शृंगार-प्रसाधन करके उनमें मुंह देखने को आती हों। चक्रवर्ती भरत उस दूधिया पर्वत की मन भावनी आभा को और उज्ज्वल शिला-पट्टों की लम्बी पंक्तियों को घूम-घूम कर देखने लगे। छह खण्ड की दिग्-विजय और चक्रवर्तित्व के गर्व से दीप्त भरत की आँखें वृषभाचल की स्फटिक सी श्वेत आभा में अपने निर्मल यश का प्रतिबिम्ब झलकता हुआ देख रही थीं।

चक्रवर्ती पर्वत के श्वेत शिलापट्ट पर अपना नाम अङ्कित करना चाहते थे। इसके लिए काकिणीरत्न लेकर ज्यों ही उद्यत हुए तो सर्वत्र शिलापट्टों पर हजारों हजार चक्रवर्ती राजाओं के नाम लिखे हुये देख कर चकित से रह गये।

"क्या इस पृथ्वी पर मेरे जैसे और भी असंख्य चक्रवर्ती राजा हो गये है ? इस पर्वत का खण्ड-खण्ड उनकी प्रशस्तियों से भरा हुआ है ? इसमें तो एक नाम लिखने की भी जगह नहीं है...........?" चक्रवर्ती भरत का अहंकार गल गया। विस्मित से देखते रहे, अपना नाम लिखने के लिए उन्हें कहीं एक पंक्ति भी खाली नहीं मिली।

बहुत देर सोचने के बाद चक्रवर्ती ने किसी एक चक्रवर्ती के नाम की प्रशस्ति को अपने वज्रोपम हाथों से मिटाया, और वहाँ पर अपनी प्रशस्ति लिखी—"मैं इक्ष्वाकु-वंश-रूपी आकाश का चन्द्रमा, चारों दिशाओं की पृथ्वी का स्वामी, अपनी माता के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ, भगवान ऋषभ देव का बड़ा पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत हूँ। मैंने समस्त विद्याधरों, देवताओं और राजाओं को विनत किया है, पृथ्वी मण्डल की परिक्रमा करके दिग्विजय प्राप्त की हैं।"

भरत ने अपनी यशः प्रशस्ति लिखकर ज्यों ही उसे दुबारा देखा, तो उनके हृदय में एक उलझा हुआ प्रश्न समाधान पाने को उठ खड़ा हुआ। "मैंने आज एक चक्रवर्ती के नाम को मिटाकर अपना नाम लिखा है, तो क्या इसी प्रकार भविष्य का कोई चक्रवर्ती मेरा नाम भी मिटाकर अपना नाम नहीं लिखेगा? इस महाकाल के प्रवाह में कौन अजर, अमर, अविनाशी रहा है? यह जगत क्षणभंगुर है, चलाचल है।"

—आदि पुराण (आचार्य जिनसेन), पर्व ३२। १३०-१५४

बाहुबली :
चक्रवर्ती का विजेता

चक्रवर्ती भरत दिग्विजय करके लौटे थे। अयोध्या नगरी में विजय-महोत्सव मनाया जा रहा था। सुहासिनियों ने चक्रवर्ती की मंगल आरती उतारी। सब ओर आनन्द और उल्लास का सागर तरंगित हो रहा था। तभी सेनापति सुषेण ने आकर निवेदन किया—"महाराज! चक्ररत्न अब भी अयोध्या नगरी के गोपुर द्वार में प्रवेश नहीं कर रहा है। आयुधशाला में शान्त भाव से यथास्थान प्रतिष्ठित नहीं हो रहा है।"

चक्रवर्ती की मुखाकृति पर चमकता हुआ विजयोल्लास क्षीण पड़ गया—"क्या अभी भी दिग्-विजय अधूरी है?"

महामान्य राजपुरोहित ने चक्रवर्ती की चिन्ता का विश्लेषण करते हुए कहा—"महाराज! आपने

अपने प्रबल पुरुषार्थ के बल पर छह खण्ड को विजय कर लिया है। भरत खण्ड के समस्त छोटे बड़े अधिपतियों के मुकुट आप के चरणों में झुक गये हैं। किन्तु महाराज ! अभी भी दीपक के नीचे अन्धेरा रह गया है। आपके अट्ठानवे छोटे भाई और अनुज बाहुबली आपके विजयोत्सव में कहाँ सम्मिलित हुए हैं ? वे अब भी स्वतन्त्र राजा बने बैठे हैं...।"

"समस्त भरत खण्ड मेरी आज्ञा मान चुका है, परन्तु मेरे छोटे भाई अभी तक मुझ से अकड़े हुए अलग बैठे हैं। भाई और फिर अलग ? विचित्र स्थिति है।" चक्रवर्ती भरत विचार में पड़ गये। एक ओर भाइयों की अवज्ञा और दूसरी ओर भ्रातृ-प्रेम की मर्यादा, भरत के लिए इससे अधिक और क्या असमंजस हो सकता था। वे निर्णय नहीं कर पा रहे कि क्या करें और क्या न करें।

पुरोहित ने चक्रवर्ती की गंभीरता को भंग करते हुए कहा—"महाराज ! सृष्टि के नवीन क्रम के अनुसार आप प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् बन रहे हैं। चक्रवर्ती की मर्यादा के अनुसार सब भाइयों को भी आपकी अधीनता स्वीकार करनी होगी। दूत भेज कर उन्हें सूचित करना चाहिए।"

"चक्रवर्ती की मर्यादा के लिए भाइयों के राज्य पर अधिकार !"—भरत को विचित्र और अटपटा लगा। वे कुछ क्षण मनोमन्थन में मौन रहे। किन्तु युग की परम्परा का तकाजा ! आखिर भरत ने पुरोहित के परामर्श के अनुसार सभी भाइयों के पास संदेश भेजा :

—"सृष्टि का नवीन क्रम प्रारम्भ हो गया है। स्वतन्त्र राज्य-व्यवस्था की परम्परा अब बदल चुकी है। अतएव प्रथम चक्रवर्ती भरत ने छह खण्ड विजय करके समस्त राजाओं को अपने अधीन कर लिया है। तुम भी चक्रवर्ती की सेवा में उपस्थित होकर अधीनता स्वीकार करो, और सामन्त राजा के रूप में शासन चलाओ।"

आदि युग के प्रथम राजा ऋषभ देव के सौ पुत्र थे। निर्ग्रन्थ-दीक्षा लेते समय उन्होंने सब पुत्रों को राज्य के अलग-अलग भाग अपने हाथ से बाँट दिये थे। भरत को विनीता (अयोध्या) का राज्य मिला। बाहुबली को तक्षशिला का और शेष अट्ठानवें पुत्रों को अन्य छोटे-छोटे राज्य। सब अपने आप में संतुष्ट थे, प्रसन्न थे। न किसी को राज्य-विस्तार की लिप्सा और न किसी को अपना सेवक बनाने का दर्प ! पिता

के दिए हुए राज्य में सब आनन्द एवं उल्लास के साथ रह रहे थे।

भरत की चक्रवर्ती बनने की समस्या ने युग की शान्ति में एक तूफान खड़ा कर दिया। "पिता के दिए हुए राज्य पर बड़ा भाई हाथ उठा रहा है। उसे इतने बड़े विशाल राज्य से भी शान्ति और सन्तोष नहीं मिला"—इसी विचार ने छोटे भाइयों के मन की बड़े भाई के प्रति श्रद्धा को ध्वस्त कर दिया। राज्य-लिप्सा के प्रति घृणा जग उठी। अट्ठानवें भाई मिले, भरत के संदेश पर विचार किया "—क्या करें ? बड़े भाई के साथ संघर्ष ! बड़ी अभद्र कल्पना है। राज्य जैसी तुच्छ वस्तु के लिए भाई-भाई लड़ें ? यह तो कभी नहीं हो सकता। तो क्या राज्य सोंपकर उसके सेवक बन जाएँ ? हमारे क्षात्र तेज को यह भी तो सह्य नहीं। आखिर करें तो क्या ? चलो, पिता जी के पास। जैसा वे कहेंगे वैसा ही कर लेंगे।" अट्ठानवें भाई मिल कर पहुँचे प्रभु आदि नाथ के चरणों में। सबके उदास और खिन्न चेहरे ! कर्तव्यविमूढ से प्रभु के चरणों में खड़े हो गये—"तात! आपका दिया हुआ राज्य भरत भाई छीन रहा है। हम क्या करें, संघर्ष या सेवा ?"

प्रभु ने राजकुमारों की सरल एवं सात्त्विक अन्तर् चेतना को प्रबुद्ध करते हुए कहा—"क्या राज्यविस्तार की परम्परा भाई-भाई के संघर्ष से प्रारंभ होगी ? तुच्छ राज्य के लिए इतना बड़ा नर-संहार ! मानव के प्राणों का मूल्य अधिक है, या सिंहासन का ?" —मानवता के त्राता प्रभु ऋषभनाथ ने शान्ति और प्रेम का सन्देश दिया। पुत्रों को उद्बोधन दिया। प्रभु के एक ही संकेत पर अट्ठानवें भाइयों ने भाई के लिए राज्य का उत्सर्ग कर दिया। "भौतिक राज्य के लिए भाई भाई का खून पी जाये ? कभी सम्भव नहीं !" राजकुमारों ने राजमुकुट उतार कर रख दिए और आत्मा के अपराजित अमर राज्य के सिंहासन पर जा बैठे ! प्रभु के चरणों में सब प्रव्रजित हो गये।

भरत ने अट्ठानवें भाइयों के राज्य-त्याग करके प्रव्रजित होने का संवाद सुना तो चक्रवर्ती पद की अपनी असीम राज्य लिप्सा पर उनका मन ग्लानि से भर गया। एक क्षण वह स्वयं को धिक्कार उठे। छोटे भाइयों के पास जाकर विनम्र भाव से क्षमा माँगने का भी मन होने लगा।

तभी तक्षशिला से सुवेगदूत वापस लौट कर आया। चक्रवर्ती को नमस्कार करके बोला—"आर्य !

महाराज बाहुबली ने हमारे विनम्र आमन्त्रण की अवहेलना करते हुए कहा है—"छोटे भाइयों का राज्य छीन लेने की लिप्सा को मैं धिक्कारता हूँ। बालक राजकुमारों को डरा धमका कर राज्य छीन लेना, कौन बड़ी वीरता है ? पर बाहुवली बालक नहीं है, जो गीदड़ भभकियों से डर जाये। उसकी भुजाओं में बल है, नसों में क्षत्रियत्व का अजेय रक्त है। औरों को जीतने से क्या है, जब तक मुझे नहीं जीता। मैं भरत के चरणों में बड़े भाई होने के नाते शतशत प्रणाम कर सकता हूँ। राज्य-सर्वस्व, यहाँ तक कि प्राण भी अर्पण कर सकता हूँ, परन्तु चक्रवर्ती सम्राट् के नाते मैं भरत की न कोई आज्ञा मानूंगा, और न उसे एक फूटी कौड़ी भी भेंट के रूप में दूँगा।"

सुवेग के मुंह से बाहुबली का रोष और व्यंग-भरा उत्तर सुनकर महाराज भरत स्तम्भित से रह गये। बाहुबली के अपराजेय बल से वे परिचित थे। बचपन में जब दोनों भाई साथ खेलते थे, तो भरत अनेक बार बाहुबली के प्रचण्ड बल एवं शक्ति का चमत्कार देख चुके थे। अपने छोटे भाई के बल पराक्रम पर उन्हें गर्व था। किन्तु छोटा भाई आखिर छोटा भाई है, उसे बड़े भाई का सम्मान करना

चाहिए, उसकी मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए, वह चक्रवर्ती जो है। बाहुबली इस प्रकार चक्रवर्ती की अवज्ञा और अवहेलना करेगा, भरत को इसकी कल्पना भी नहीं थी। "बाहुबली को किस प्रकार चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार करवाई जाये, ताकि भ्रातृ-स्नेह की पवित्र धारा टूटने न पाये और युग की नई परम्परा का भी निर्वाह हो सके"—भरत इसी चिन्तन में गंभीर हो गये। यह गंभीरता और आगे बढ़ी, और यहाँ तक बढ़ी कि यदि बाहुबली सहज स्नेह से आज्ञा स्वीकार न करे, तो भले ही चक्रवर्ती पद को जलांजलि देनी पड़े, किन्तु भ्रातृत्व भाव का स्नेह सूत्र भंग नहीं होने पाये।

चक्रवर्ती की गंभीर मुखमुद्रा को देखकर पुरोहित मंत्री एवं सेनापति ने समझाया—"महाराज! शासन शासन है। उसके समक्ष भाई का क्या प्रश्न! वहाँ तो शासन की मर्यादा का प्रश्न है। यह ठीक है कि बाहुबली भी भगवान ऋषभ देव के पुत्र हैं, आपके प्रिय अनुज हैं, किन्तु चक्रवर्तित्व की अखण्ड मर्यादा के अनुसार बाहुबली को आपकी आज्ञा स्वीकार करनी होगी, और इसके लिए अब युद्ध के सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

भरत कुछ समय तक धर्म-संकट में उलझे रहे। आखिर पुरोहित व सेनापति के परामर्शानुसार बाहुबली के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी पड़ी, राजनीति ने परिवार नीति पर विजय प्राप्त की।

बाहुबली ने भी इधर भरत के विरुद्ध रणभेरी बजा दी। दोनों ओर की विशाल सेनाएँ तक्षशिला के मैदानों में आकर डट गईं।

बाहुबली समर क्षेत्र में आगे आये। उन्होंने भरत को पुकारा—"क्यों निरपराध मनुष्यों का खून बहा रहे हो ? संघर्ष का मूल हम दोनों के बीच में हैं। तो आओ दोनों का शक्ति-परीक्षण हो जाये। हम घातक शस्त्रों से नहीं, बल्कि सात्त्विक-संघर्ष करें। जय पराजय के निर्णायक हमारे सैनिक नहीं, घातक शस्त्रास्त्र भी नहीं, बल्कि एकमात्र शुद्ध बाहुबल हो।'

भरत ने बाहुबली की इस नैतिक चुनौती को स्वीकार कर लिया। दोनों ओर के सम्मिलित परामर्श से वाग्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध—इस प्रकार अघातक युद्ध-पद्धति का निर्णय किया गया। तदनुसार दोनों ओर की सेनाएँ दूर हटकर दर्शक की तरह खड़ी हो गई और भरत बाहुबली एक दूसरे के

आमने-सामने सावन के दो गरजते काले मेघों की तरह रणक्षेत्र में आकर खड़े हो गये।

दोनों में दृष्टि-युद्ध प्रारम्भ हुआ, बाहुबली की तेजप्रदीप्त आँखों के सामने भरत की आँखें अधिक समय तक अनिमिष नहीं रह सकीं। फिर वचन-युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्ड-युद्ध में भी भरत परास्त होते गए। भरत का साहस विचलित हो गया, शौर्य शंका-ग्रस्त होने लगा—"चक्रवर्ती मैं हूं या यह ? छह खंड विजय करने वाला पराक्रम आज पराजित हो रहा है, आखिर क्या बात है ?" भरत का हृदय भय और आशंका से ऐसा गड़बड़ाया कि वे दण्ड-युद्ध करते करते युद्ध की निर्धारित प्रतिज्ञा को भूलकर बाहुबली का मस्तक उड़ा देने के लिए चक्र घुमाने लगे। घुमाया ही नहीं, आवेश में भान भूल कर चला भी दिया।

चक्र बाहुबली के निकट आया, किन्तु वह दैवी-शक्ति से संचालित था, बन्धुहत्या कैसे करता ? चक्र आया, शान्त हुआ और बाहुबली की प्रदक्षिणा करके वापस लौट गया।

भरत के द्वारा चक्र का प्रयोग देखकर बाहुबली का रोष भयङ्कर दावानल की तरह भड़क उठा।

बाहुबली का दंड तक्षक नाग की तरह हवा में फुंकारने लगा। जैसे कि प्रलय काल ही मचल उठा हो। भरत का हृदय थर-थर काँप उठा—"क्या एक ही युग में एक साथ दो चक्रवर्ती होंगे? क्या मैं चक्रवर्ती नहीं, बाहुबली ही वस्तुतः चक्रवर्ती है? क्या चक्रवर्तित्व के इतिहास का पहला पृष्ठ ही एक बन्धु द्वारा दूसरे बन्धु के निर्मम वध से प्रारंभ होगा?" भरत दिग्मूढ़ से खड़े देखते रहे।

बाहुबली का रोष प्रचण्ड होता जारहा था। "भरत प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होकर मुझे मारने के लिए चक्र छोड़ता है? अच्छा! अभी एक मुष्टि-प्रहार से इस चक्र को और इस चक्री को भी चूर-चूर कर डालता हूँ।"—बाहुबली मदोन्मत्त गजराज की तरह मुष्टि उठाये चक्रवर्ती की ओर लपके। भरत की सेना क्षुब्ध सागर की तरह विक्षुब्ध एवं विचलित हो उठी।

अचानक बाहुबली के विचारों में एक स्फुलिंग जल उठा—"ओह! किधर चला मैं? इक्ष्वाकु वंश की मर्यादा मिटाने? भाई का खून बहाकर इस राज्य का मैं क्या करूँगा?" बाहुबली की मुष्टि बंधी-की-बंधी रह गई, पाँव रुक गये। उनके हृदय में एक बिजली-सी कोंध गई—"पिता श्री ऋषभदेव

की वाणी के अनुसार भरत प्रथम चक्रवर्ती होगा। युग की मर्यादा पुकार रही है। जो होने का है वह होने दूँ और हाँ, राष्ट्र की अखण्ड श्री समृद्धि के लिए चक्रवर्तित्व जैसा एक-छत्र अखण्ड सुनियन्त्रित शासन आवश्यक भी तो है।" बाहुबली वहीं पर स्थिर हो गए। विश्व का प्रथम जन-प्रलय होते-होते रुक गया।

बाहुबली युद्ध से विरत हो गए। भौतिक साम्राज्य के लिए ऊपर उठा हुआ हाथ, आध्यात्मिक साम्राज्य के लिए अपनी ही ओर मुड़ गया। बाहुबली ने उसी हाथ से पंच-मुष्टि लोच कर लिया। रण-क्षेत्र का महान विजेता देखते-देखते आत्म-विजेता साधु बन गया। चकित से, भ्रमित से भरत, बाहुबली के चरणों में झुक गये। देवताओं ने 'साधु-साधु' कहकर पुष्प-वृष्टि की।

बाहुबली को पता नहीं चला कि सेनाएँ रण-क्षेत्र से कब वापस लौट गईं। वह तो वहीं ध्यान-मुद्रा में अन्तर्लीन खड़े हो गये। एक विचार आया "चलूं, प्रभु ऋषभदेव के चरणों में।" दूसरे ही क्षण मन के एक कोने में दबा हुआ क्षात्र-अहङ्कार जग उठा—"वहाँ छोटे भाई भी हैं, जो साधु बन गए हैं। संघ-शासन की मर्यादा के अनुसार पूर्वप्रव्रजित

छोटे भाइयों को नमस्कार करना होगा। मैं बड़ा होकर छोटों को कैसे सिर नवाऊँ ? नहीं, यों नहीं, अब तो केवलज्ञान प्राप्त करके ही चलूंगा। छोटे-बड़े का भेद समाप्त। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।" इस सूक्ष्म अहङ्कार ने बाहुबली को वहीं जकड़ लिया। उत्तुंग गिरि-शिखिर की तरह अचल, ध्यान में खड़े हो गए।

आँधी-तूफान आये। गर्मी की ज्वालाएँ दहक उठीं, वर्षा की मस्त हवायें चलीं, और सर्दी की हिम-शीतल पवन भी कलेजा चीरती हुई निकल गई। बाहुबली नहीं हिले नहीं डिगे। उनके शरीर पर मिट्टी की परतों पर परतें जमती चलीं गईं। भूमि से अंकुरित लतायें शरीर को वृक्ष की तरह आवेष्टित करती हुई चली गईं। मस्तक पर जटाओं में पक्षियों ने घोंसले डाल दिये। पर वह आदियुग का महाभीम बाहुबली ध्यान में स्थिर अविचल खड़ा रहा। एक ओर खड़ा जड़ पर्वत तो कभी तूफ़ानी हवाओं और विद्युत के बज्रघोषों से प्रकंपित भी हो जाता, परन्तु यह चैतन्य गिरिराज सदा और सर्वथा निष्प्रकम्प रहा, बाहर भी और अन्दर भी।

महायोगी के तपःपूत देह से प्रस्फुरित होने

वाली तपोमय किरणों के संस्पर्श से आस-पास का वह वनप्रान्तर शान्त तपोवन सा बन गया था। सद्यः-प्रसूत सिंहनियाँ हथनियों के बच्चों का मस्तक सूंघती और उन्हें प्रेम से स्तन-पान करातीं। गज कलभ सिंह-शावकों के साथ अपनी शुण्ड उछाल-उछाल कर क्रीड़ा करते रहते। मृग और मृगराज परस्पर का वैर भूलकर सहोदर बन्धु की तरह सस्नेह महामुनि के चरणों में एक साथ वन्दन करते। बाँबियों से निकल कर काले नाग मुनि के चरणों में फन फैला कर यों बैठे दिखाई देते, मानो किसी ने अर्चा के लिए चरणों में नील कमलों के गुच्छक रख दिये हों।

दुष्ट और क्रूर जीव भी अपने जन्म-जात संस्कार भूलकर शान्ति और प्रेम के अपूर्व वातावरण में पल रहे थे।

तपस्वी के तपोमण्डल से संस्पृष्ट हवाएँ वन के कोने-कोने में शान्ति, प्रेम और अहिंसक भावनाओं की सृष्टि कर रहीं थीं। पूरे एक वर्ष तक दिव्य पुरुष और दिव्य प्रकृति का यह अद्भुत खेल चलता रहा।

भगवान ऋषभदेव के ज्ञान में सब झलक रहा था—"बाहुबली साधना की कठोर भूमिका पर पहुंच

रहा है। किन्तु छोटा-सा अहङ्कार उसे जकड़े हुये बैठा है। आगे बढ़ने नहीं देता।" प्रभु ने उद्‌बोधन के लिये आर्या ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा। ब्राह्मी सुन्दरी बाहुबली के निकट आई। वज्रस्तंभ की तरह ध्यान में अविचल खड़े बाहुबली को देखकर श्रद्धा से उनका सिर झुक गया। फिर एक मधुरस्वर हवा में गूंज उठा—"बंधु ! हाथी से नीचे उतरो। गजारूढ़ हुए कब से खड़े हो ? हाथी पर चढ़े रहने से ज्ञान नही होता है।"

बाहुबली बहनों के परिचित स्वर को सुनकर चोंक पड़े—"क्या कह रही हैं ? मैं राज्य-वैभव त्याग करके साधु बन गया, अब कहाँ है हाथी मेरे पास ? दोनों बहनें कभी गृहस्थ-दशा में भी इस प्रकार झूठ नहीं बोलती थीं। अब तो साध्वी हैं, कैसे मिथ्या भाषण कर सकती हैं, परिहास में भी नहीं ! तो फिर कैसे हाथी पर वैठा हूँ मैं ? ओह ! ध्यान में आया, मैं अहङ्कार के हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ ! वह हाथी तो ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं है। उस पर चढ़े हुए तो पितामही मरुदेवा जी को केवलज्ञान हो गया था। परन्तु यह अभिमान का हाथी वड़ा ही दुर्दम है।

राज-वैभव त्याग दिया, सुख-सुविधायें छोड़ दीं, पर इतना-सा अहङ्कार नहीं छोड़ सका ? छोटे बड़े भाई का विचार मुझे जकड़े हुए बैठा है। मनुष्य की देह का क्या छोटा, क्या बड़ा ? देह और जन्म की ज्येष्ठता महान नहीं, महान् है साधना की ज्येष्ठता। शरीर अर्चनीय नहीं, अर्चनीय तो गुण है। जिस में गुण है, वही वंदनीय है, पूजनीय है। ज्येष्ठता के दर्प में कहाँ है मेरा गुणानुराग ? गुण-दृष्टि के बिना कहाँ है सम्यक् दर्शन की निर्मलता ? और सम्यक्त्व की निर्मलता के अभाव में कैसी है यह मेरी प्रव्रज्या ? कठोर साधना ? बहक रहा हूँ मैं तो, मंजिल कैसे मिले ? अभी तक भटकन ही समाप्त नहीं हुई है। अभी चलता हूँ प्रभु के चरणों में। गुणज्येष्ठ भाइयों को नमस्कार करूँगा"—बाहुबली विचारों की उच्च भूमिका पर बढ़ते गये, बढ़ते गये। अहङ्कार की गाँठ खुलती गई, और वह पूरी तरह खुल गई। हृदय स्वच्छ और स्फटिक सा निर्मल हो उठा। और इस भाव-प्रवणता में ज्योंही उन्होंने कदम उठाया कि बन्धन की बेड़ियाँ जैसे खण्ड-खण्ड होकर बिखर गई। साधना इधर नहीं, उधर सिद्धि के द्वार पर ही अटकी हुई थी। द्वार खुले, महा-प्रकाश फैल गया।

सिद्धि मिल गई। बाहुबली का हृदय जगमगा उठा। केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

चक्रवर्ती के दर्प का विजेता, अपने अहं के दर्प का विजेता भी बना। और जैन साधना की यह अनादि कालीन घोषणा शत शत ध्वनियों में मुखरित हो उठी—सच्ची विजय यही है, यही है।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित १।४-५

—कथाकोष प्रकरण, कथा ६
(जिनेश्वर सूरि)

—आदिपुराण (जिनसेन) पर्व ३४-३६
(बाहुबली की तपःसाधना तक)

चक्रवर्ती भरत का जीवन-दर्शन

8

विनीता नगरी में भगवान ऋषभनाथ धर्म-देशना कर रहे थे। प्रभु ने महाआरम्भ और महापरिग्रह को नरक का कारण बतलाते हुए, जीवन में आरंभ और परिग्रह को कम करने का उपदेश दिया। सभा में चक्रवर्ती भरत भी उपस्थित थे, अन्य प्रजागण भी। विनीता के एक स्वर्णकार ने प्रभु से जिज्ञासा की—"भन्ते ! मेरी मुक्ति पहले होगी या भरतेश की ?"

प्रभु ने उसके हृदय की उथल-पुथल देखी—वह अपने आप को अल्पआरंभी और अल्पपरिग्रही माने बैठा था, और उसकी अपनी तुलना में चक्रवर्ती भरत तो निश्चय ही महा आरंभी और महा परिग्रही था। वह आरंभ और परिग्रह को स्थूलदृष्टि से देख रहा था। प्रभु ने स्पष्टीकरण किया—"भद्र ! भरत को मुक्ति पहले होगी, वह अल्पआरंभी है।"

स्वर्णकार मौन हो गया, पर उसका हृदय शंकाकुल हो उठा। "भरत आदिनाथ के पुत्र हैं, इस लिए उन्होंने अपने पुत्र की मुक्ति पहले बतादी। उसे इतना बड़ा साम्राज्य भोगते हुये भी अल्पआरंभी और अल्पपरिग्रही बता दिया। आखिर पक्षपात से इस संसार में कौन बचा है ?"—स्वर्णकार कुछ ऐसे ही विचारों के अन्धकार में खो गया। स्वर्णकार ने भगवान के इस मनसा परिकल्पित पक्षपात पूर्ण कथन की चर्चा लोगों के सामने की। बात हवा में फैलती हुई, चक्रवर्ती भरत के पास भी पहुंच गई।

भरत ने सोचा—"स्वर्णकार को सत्य तो समझाना है। पर वह मन्दबुद्धि है, तर्क से नहीं, उदाहरण से ही समझ सकेगा।" स्वर्णकार को राज सभा में बुलाया गया। भरत ने कहा—"तुम इस प्रकार की गलत बात कर रहे हो, जानते हो चक्रवर्ती की अवज्ञा का क्या दंड होता है ?"

सम्राट की लाल-लाल रोष पूर्ण आँखें देख कर स्वर्णकार के प्राण सूखने लगे। वह हाथ जोड कर क्षमा माँगने लगा।

चक्रवर्ती ने कृत्रिम रोष बताते हुए कहा—

"अपराधी ऐसे नहीं छूट सकता, इसका दंड मिलेगा।" सम्राट का आदेश हुआ, तैल से छलाछल भरा हुआ एक कटोरा स्वर्णकार की हथेली पर रखा गया। चक्रवर्ती ने सूचना देते हुए कहा—"खबरदार ! विनीता नगरी के चौराहों, बाजारों और मुख्य मार्गों पर भ्रमण करते हुए इस कटोरे से तैल की एक भी बूंद गिरने न पाए। यदि कहीं तैल छलक गया तो साथ में चलने वाले शस्त्रधारी राजपुरुष वहीं पर शस्त्र से तेरे दो टूक कर डालेंगे।"

चक्रवर्ती की आज्ञा सुनी तो स्वर्णकार को जैसे काठ मारगया। वह काँप-काँप उठा। पर अब करे भी क्या ? चक्रवर्ती का आदेश जो ठहरा। तुरन्त निकल पड़ा विनीता के परिभ्रमण पर ! नगर में स्थान-स्थान पर कहीं उत्सव हो रहे थे, तो कहीं मनोहर नृत्य-संगीत हो रहे थे। लोगों की चहल-पहल, आवागमन ! पर कुछ भी नहीं आया उसकी नजर में ! वह घूमता रहा, कटोरे पर दृष्टि टिकाये।

संध्या होते-होते स्वर्णकार नगर का चक्कर लगा कर राज सभा में पहुँचा, अब उसके दम में दम

आया। कटोरा वैसा का वैसा भरा हुआ चक्रवर्ती के सामने रखा।

भरत ने पूछा—"कहो भाई, आज नगर में क्या देखा तुमने! कहाँ कौनसा नाटक हो रहा था।"

—"महाराज! मेरी आँखों के सामने तो कटोरे पर केवल मौत नाचती हुई दिखाई दे रही थी! इसके अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं देखा।"

—"अच्छा, संगीत की मधुर स्वर-लहरियों की ओर तो कान कुछ खिंचे ही होंगे?"

"कानों में सिर्फ मौत की ही ध्वनि अविराम सुनाई दे रही थी, इसके अतिरिक्त मैंने कुछ भी तो नहीं सुना।"

"क्यों, ऐसा क्यों हुआ?"

"महाराज! मृत्यु का डर जो था। यदि थोड़ा-सा भी इधर-उधर ध्यान चला जाता और कटोरे से तेल की एक बूंद भी नीचे गिर गई होती तो, मेरे तो प्राण वहीं न लुट जाते।

"मौत का इतना वड़ा डर?"

"महाराज! मौत से बड़ा डर संसार में और है ही क्या?"

चक्रवर्ती ने स्वर्णकार पर ऊपर से नीचे तक एक दृष्टि डाली, और फिर धीरे गंभीर स्वर में बोले— "तुझे सिर्फ इस जन्म की मृत्यु का डर था, इसलिए तू न उत्सव का आनन्द ले सका, न मनोहर नाटक देख सका, न मधुर संगीत ही तुझे लुभा सका और न इतनी भीड़-भाड़, चहल-पहल ही तुझे अपने लक्ष्य से विचलित कर सकी। मेरे सामने तो जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का भय खड़ा है, मृत्यु राक्षसी पदे पदे और क्षणे क्षणे मेरे सामने आग उगलती चली आरही है। भला, मैं उस मृत्यु से निर्भय और बेपरवाह होकर इस राज्य वैभव में किस प्रकार लिप्त हो सकता हूँ। अपने आपको कैसे भुला सकता हूँ।"

स्वर्णकार के अन्तर् नयन खुलने लगे। भरत के जल-कमलवत् अनासक्त जीवन का दर्शन उसके सामने स्पष्ट होने लगा।

भरत चक्रवर्ती ने आरंभ और परिग्रह का दर्शन समझाते हुये कहा—"इतने बड़े साम्राज्य में मुझे कोई लगाव नहीं है, कोई रति नहीं है, सिर्फ एक कर्तव्य बुद्धि से मैं अपनी राज्य-व्यवस्था देखता चला जा रहा हूँ। प्रजा में न्याय, नीति की स्थापना, और

उसकी सुख-समृद्धि ही मेरे राज्य सिंहासन का एक-मात्र लक्ष्य है। इसलिए परिग्रह और आरंभ के बीच रहते हुए भी मेरा उससे ममत्व नहीं है। जीवन की नश्वरता का विचार और मृत्यु का दर्शन मुझे विषयासक्ति से बचाता है, इसीलिए भगवान ने मेरी मुक्ति तुम्हारे से पहले बतलाई है, समझे !"

स्वर्णकार भरत के जीवन-दर्शन के साथ अपने जीवन की तुलना करने लगा—"मामूली छोटा सा घर, परिवार और थोड़ी-सी सम्पत्ति ! पर मेरी कितनी बड़ी आसक्ति ? आरंभ और परिग्रह तो वस्तु में नहीं, भावों में है। चक्रवर्ती से भी अधिक आसक्ति तो मेरे क्षुद्र मन में ही है, तो फिर भगवान ने ठीक ही तो कहा है।"

"महाराज ! मैं भटक गया था, अब समझ में आया। आसक्ति ही परिग्रह है, बंधन है। अनासक्ति ही मुक्ति है।" स्वर्णकार चक्रवर्ती को नमस्कार करके विदा हुआ।

—उदाहरणमाला खण्ड १ (श्री जवाहिराचार्य)

भरत चक्रवर्ती का वैराग्य

भगवान् आदिनाथ के निर्वाण के बाद चक्रवर्ती भरत का हृदय संसार से विरक्ति की ओर उन्मुख रहने लगा था। ऐश्वर्य और विलास के अपार सुख-साधन होते हुए भी मन उचटा-उचटा सा अन्दर ही अन्दर 'कुछ और' खोज रहा था। साम्राज्य का विशाल जुआ कंधों पर लिए कर्तव्य-बुद्धि से चल रहे थे, पर, जी करता था कि इसे उतार कर रख दें और कहीं एकान्त शान्त वातावरण में बैठकर स्वस्वरूप के शुक्ल ध्यान में लीन हो जाएँ।

साम्राज्य की अनेकविध प्रवृत्तियाँ ज्यों की त्यों चल रही थीं। कहीं विशाल भवनों का निर्माण हो रहा था, तो कहीं राष्ट्र-रक्षा की दिशा में नए-नए शस्त्रास्त्रों का अविष्कार एवं उत्पादन किया जा रहा था। कहीं कृषि-विकास की योजनाएं मूर्तरूप ले रहीं

थीं, तो कहीं उद्योग-धन्धों का जाल फैलाया जा रहा था। शासन के इन अगणित प्रवृत्ति-चक्रों के बीच चक्रवर्ती का शान्त और विरक्त हृदय ऐसा लग रहा था, मानों गरजती हुई तूफानी लहरों के नीचे शान्त महासागर सोया है।

वैराग्य के निर्मल निर्झर से हृदय का कोना-कोना आप्लावित हो रहा था। भीतर-ही-भीतर छलकता हुआ अध्यात्मभाव का अमृतरस अभी-अभी शत सहस्र धाराओं में फूट कर बह जाने को आकुल हो रहा था। प्रतीक्षा थी, किसी प्रबोधक-घटना के हल्के से आघात की।

ज्ञान का प्रकाश-पुञ्ज भीतर-ही-भीतर द्योतित हो रहा था, आवश्यकता थी तो सिर्फ एक स्फुलिंग की, जिसका हल्का सा संस्पर्श पाकर वह प्रकाश बाहर में महाज्योति के रूप में प्रज्ज्वलित हो उठे।

प्रतीक्षा थी समय के परिपाक की........।

एक दिन चक्रवर्ती ने अभ्यङ्गन करके सुन्दर देवदूष्य धारण किए। बहुमूल्य आभरणों से देह को अलंकृत किया। नव प्रफुल्लित सुरभित पुष्पमालाएँ पहन कर आदर्श-भवन (शीश महल) में प्रविष्ट हुए।

दीवारों पर जड़े हुए स्फटिक से उज्ज्वल शीशों में चक्रवर्ती का सौन्दर्य ऐसा छविमान हो रहा था, मानो देवराज इन्द्र अपनी सम्पूर्ण साज-सज्जा के साथ उपस्थित हो गए हों।

आँगन में जड़े हुए दूध से श्वेत दर्पण में प्रतिबिम्बित चक्रवर्ती की सुन्दर छवि ऐसी लग रही थी, मानो शुभ्रातिशुभ्र क्षीरसागर में कोई राजहंस तैर रहा हो।

आदर्श-भवन की नाना संभ्रम पैदा करने वाली विचित्र छवि का दर्शन करते हुए चक्रवर्ती एक आदमकद दर्पण के सामने आकर खड़े हो गये।

चक्रवर्ती का सुन्दर रूप संपूर्ण छवि के साथ दर्पण में प्रतिबिम्बित हो उठा। चक्रवर्ती के बढ़ते हुए चरण वहीं ठिठक कर रुक गए। इधर उधर घूमती हुई दृष्टि अपनी ही छवि पर आकर टिक गई। जैसे आज कुछ नवीन हो गया है।

चक्रवर्ती की आयु का परिपाक हो चुका था, किंतु उनका चिर-अम्लान सौन्दर्य अब भी मधुरस भरे परिपक्व आम्र की तरह और अधिक आकर्षक एवं मधुर लग रहा था। चक्रवर्ती अपनी ही छवि को

आज कुछ दूसरी निगाह से देख रहे थे, जैसे उसमें कुछ अद्‌भुत, कुछ नूतन निखार आ गया हो।

विशाल उन्नत भाल पर रत्नजटित स्वर्ण-मुकुट, कर्णयुगल में प्रलम्बमान दिव्य मणि-कुण्डल, और गले में झिलमिलाते बहुमूल्य मुक्ताहार! सबकी अपनी-अपनी विभिन्न रंग-बिरंगी द्युति, एक अद्‌भुत चमक और रंगीन छटा दर्पण-तल में छिटक रही थी।

सुन्दर कौशेय-नील परिधान और उस पर दक्षिणोत्तर लिपटा हुआ लाल रेशमी दुकूल, ऐसा लग रहा था, मानो सघन नील-जलधर के बीच में रक्ताभ विद्युत की एक प्रलम्ब-रेखा सी चमक रही हो।

भुजाओं पर बँधे स्वर्णपट्ट के बीच माणिक्य और वैडूर्य मणि की चमक प्रलम्ब बाहु और विशाल वक्षःस्थल को देदीप्यमान कर रही थी।

अपनी ही आँखों से अपनी अद्‌भुत रूपराशि का अवलोकन करते हुए चक्रवर्ती ने अपने मांसल मणिबन्धों (कलाई) में स्फटिक-जटित कंकण-युगल को देखा। बड़ी ही अद्‌भुत दमक थी, मणिबन्धों की शोभा द्विगुणित हो रही थी। एक क्षण दोनों मणिबन्ध सहज ही सामने उठे और चक्रवर्ती अपलक नयनों से उनकी

शोभा को देखने लगे तो स्वयं ही स्वयं पर विस्मय-विमुग्ध से हो गए।

मणिबन्ध को देखते-देखते अचानक लम्बी-लम्बी कोमल-मांसल अँगुलियों पर चक्रवर्ती की दृष्टि जा टिकी। अद्भुत छवि के साथ चमकती हुई अँगुलियों के बीच एक अँगुली कान्तिहीन, सूनी-सी दीख पड़ी। अनेक सुन्दरताओं के बीच एक असुन्दरता अधिक प्रखरता से खटकती है।

चक्रवर्ती के सौन्दर्य-दर्शन की तन्मयता भंग हो गई। "अरे ! यह क्या ? समूचे शरीर पर सौन्दर्य जगमगा रहा है, और यह एक अँगुली कान्तिहीन म्लान पुष्प-सी लग रही है। इसकी शोभा कहाँ लुप्त हो गई ?"—चक्रवर्ती बार-बार अँगुली को देखने लगे। आज पहली बार उन्हें अपने अद्भुत और अन्यून शरीर-सौन्दर्य में कोई कमी सी खटकने लगी। समझ नहीं पाये, अँगुली को क्या हो गया। यह सूनी-सी और कान्तिहीन क्यों लग रही है ?

दो क्षण चक्रवर्ती ने इसी विमर्श में इधर-उधर देखा, तो सामने ही फर्श पर अँगुली से छिटककर गिरी हुई रत्न-जटित मुद्रिका पड़ी नजर आई।

"ओह !! मुद्रिका गिर पड़ी ! और इसी कारण अँगुली कान्तिहीन सूनी-सी लगने लग गई ? क्या इस अम्लान सौन्दर्य का यही आधार है ? यह सुन्दरता ! यह कान्ति ! क्या वस्त्र और आभूषणों के अस्थिर आधार पर ही टिकी है ?"– चक्रवर्ती के विचारों का प्रवाह बाहर से भीतर की ओर मुड़ गया।

"जरा देखूं तो, आभूषणों के बिना यह सौन्दर्य कैसा लगता है ?" और चक्रवर्ती एक-एक आभूषण को उतारने लगे और देखते रहे—सामने दर्पण में झलकता अपना रूप। आभूषण हटते ही सौन्दय की कृत्रिम चमक मिटने लगी। बाह्य साज-सज्जा ही देह की कान्ति को द्युतिमान कर रही थी। साज-सज्जा हटने पर कान्ति क्षीण होती प्रतीत हुई।

धीरे-धीरे चक्रवर्ती ने सब आभूषण उतार कर एक ओर रख दिये, सौन्दर्य अब उस कमल-सरोवर की तरह फीका-फीका-सा श्रीहीन लग रहा था, जिसके कि सहस्रों कमल एक साथ किसी ने निर्ममतापूर्वक उखाड़कर फेंक दिये हों। चक्रवर्ती और अधिक गंभीर हो उठे। अब अपना बाह्यरूप देखते-देखते आत्मा का वास्तविक रूप देखने में लीन हो गये। आज पहली बार चक्रवर्ती ने अपनी सुन्दरता का मूल

खोजना चाहा—“भौतिक अलंकारों से ला
सुन्दरता कितनी छिछली है और इसके आव
मनुष्य किस प्रकार अपना सही रूप छिपाए रह

........“यह सब सौन्दर्य, यह सब सुषमा कृ
और कृत्रिमता सदा क्षणभंगुर होती है। ये अलं
ये सुन्दर वस्त्र ! और यह देह वास्तव में सुन्द
है। इनमें सुन्दरता का आरोप किया है—मनु
क्षुद्रबुद्धि ने !

........“सौन्दर्य तो वह है, जो अक्षय है, अ
अमर है, जिस पर अन्य किसी मोहक आवर
आवश्यकता नहीं ! जो दूसरे के सहारे पर नहीं
सहारे पर टिकता है। जो न कभी नष्ट होता है
न मैला पड़ता है। मेरा वास्तविक सौन्दर्य बा
नहीं, भीतर में छिपा है ! आत्मा के भीतर।”

........“अनन्त ज्ञान ! अनन्त दर्शन ! यही त
सौन्दर्य का अक्षयभण्डार है। मैं ‘पर’ में अ
सुन्दरता मान रहा था। परन्तु सुन्दरता ‘पर’ में
‘स्व’ में है। यह मेरा ‘स्व=चैतन्य’ ही शुद्ध,
निर्विकार और सदा उज्ज्वल है।”

चिन्तन की धारा में बहते-बहते वे परम संवेग और परम निर्वेद की भूमिका पर पहुंच गये।

उनका देह आदर्श-भवन में था, चक्रवर्ती के वेश में आवृत था, पर, उनकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पहुंच गई। अब वे भोग के चक्रवर्ती नहीं, योग के चक्रवर्ती बन गये। आवरण समाप्त हो गये, मन के बंधन टूट गये, और अनन्त सौन्दर्य का अक्षय-स्रोत खुल पड़ा।

'अनित्यता के स्फुलिंग से जगा हुआ चिन्तन अब परम निर्वेद की कोटि में पहुँच गया। भरत निष्कंप और निर्मल शुक्ल ध्यान की उच्च श्रेणी पर चढ़ते जा रहे थे कि स्वरूपघातक कर्मों के बन्धन टूट गये। केवल ज्ञान की परम शुद्ध अनन्त ज्योति जल उठी। देवताओं ने आकाश से पुष्प-वृष्टि की। देव-दुन्दुभि के दिव्य नाद के साथ जयजयकार ध्वनित होने लगा—"चक्रवर्ती भरत की जय! चक्रवर्ती भरत पूर्ण वीतराग केवली हो गए।"

—त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित १।६
—कथाकोश प्रकरण (जिनेश्वर सूरि) कथा ९

सनत्कुमार का सौंदर्य

६

चक्रवर्ती सनत्कुमार का जितना प्रचंड पराक्रम था उससे भी अद्‌भुत था उनका सौन्दर्य। साक्षात् किन्नर और कामदेव भी उनके सौन्दर्य से ईर्ष्या करते थे। भरत चक्रवर्ती की तरह उनका भी विशाल साम्राज्य था, पर शरीर-सौन्दर्य सनत्कुमार जैसा आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ था।

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी सुधर्मा सभा में प्रसंगवश कहा—"संसार में देवताओं के सौन्दर्य को भी लज्जित करने वाला शरीर-सौष्ठव और सौन्दर्य किसी का है, तो भारतवर्ष के चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का है।"

देवराज की बात का और सब देवों ने सादर अभिनन्दन किया, परन्तु विजय और वैजयंत नामक दो देवता ईर्ष्यावश कुछ व्यग्र हो उठे। दैवी सुन्दरता के समक्ष मानवीय सौन्दर्य की प्रशंसा! बिलकुल

असंभव और व्यर्थ की अतिशयोक्ति ! *दोनों देवताओं ने मन-ही-मन देवेन्द्र के कथन को चुनौती दी और उसकी सचाई जानने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर हस्तिनागपुर में पहुंचे। हस्तिनागपुर चक्रवर्ती की राजधानी थी।

द्वारपाल ने बृद्ध ब्राह्मणों को राजमहल में घुसते हुए रोका तो ब्राह्मण बोले—"हम बहुत दूर से चले आ रहे हैं, चलते-चलते बूढ़े हो गए हैं। चक्रवर्ती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी थी, उसी दिन से ये आँखें उनके दर्शन करने को तड़प रही हैं, हमें दर्शन करने दो।"

द्वारपाल ने कहा—"अभी कुछ देर ठहरो, महाराज स्नान कर रहे हैं, जब स्नान से निपट कर राजसभा में सिंहासन पर विराजमान होंगे, तब तुम दर्शन करना।"

"अरे बाबा! पता है, तब तक क्या हो जाय? एक सांस का तो भरोसा नहीं? महाराज के दर्शन किए बिना ये प्राण-पखेरू उड़ गए, तो फिर जीवन की यह चिर साध अधूरी ही रह जायेगी, हमें अभी दर्शन करने दो।"

सनत्कुमार का सौंदर्य

६

चक्रवर्ती सनत्कुमार का जितना प्रचंड पराक्रम था उससे भी अद्भुत था उनका सौन्दर्य। साक्षात् किन्नर और कामदेव भी उनके सौन्दर्य से ईर्ष्या करते थे। भरत चक्रवर्ती की तरह उनका भी विशाल साम्राज्य था, पर शरीर-सौन्दर्य सनत्कुमार जैसा आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ था।

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी सुधर्मा सभा में प्रसंगवश कहा—"संसार में देवताओं के सौन्दर्य को भी लज्जित करने वाला शरीर-सौष्ठव और सौन्दर्य किसी का है, तो भारतवर्ष के चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार का है।"

देवराज की बात का और सब देवों ने सादर अभिनन्दन किया, परन्तु विजय और वैजयंत नामक दो देवता ईर्ष्यावश कुछ व्यग्र हो उठे। दैवी सुन्दरता के समक्ष मानवीय सौन्दर्य की प्रशंसा! बिलकुल

असंभव और व्यर्थ की अतिशयोक्ति ! दोनों देवताओं ने मन-ही-मन देवेन्द्र के कथन को चुनौती दी और उसकी सचाई जानने के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर हस्तिनागपुर में पहुंचे। हस्तिनागपुर चक्रवर्ती की राजधानी थी।

द्वारपाल ने बृद्ध ब्राह्मणों को राजमहल में घुसते हुए रोका तो ब्राह्मण बोले—"हम बहुत दूर से चले आ रहे हैं, चलते-चलते बूढ़े हो गए हैं। चक्रवर्ती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी थी, उसी दिन से ये आँखें उनके दर्शन करने को तड़प रही हैं, हमें दर्शन करने दो।"

द्वारपाल ने कहा—"अभी कुछ देर ठहरो, महाराज स्नान कर रहे हैं, जब स्नान से निपट कर राजसभा में सिंहासन पर विराजमान होंगे, तब तुम दर्शन करना।"

"अरे बाबा ! पता है, तब तक क्या हो जाय ? एक सांस का तो भरोसा नहीं ? महाराज के दर्शन किए बिना ये प्राण-पखेरू उड़ गए, तो फिर जीवन की यह चिर सांध अधूरी ही रह जायेगी, हमें अभी दर्शन करने दो।"

ब्राह्मणों की प्रार्थना द्वारपाल ने चक्रवर्ती से निवेदन की। आदेश पाकर वह उन्हें चक्रवर्ती के निकट ले गया। चक्रवर्ती तैलमालिश के बाद उबटन लगवा कर स्नानगृह की ओर जा रहे थे। ब्राह्मणों को आया देखकर चक्रवर्ती ने पूछा—"विप्रदेव ! कैसे आए ?"

ब्राह्मणों ने कहा—"महाराज ! आपके सौन्दर्य की प्रशंसा संसार में बच्चे-बच्चे के मुंह पर नाच रही है। हम उसी रूप को देखने के लिए दूर, बहुत दूर से पैदल चले आ रहे हैं।"

"देख लिया रूप ? क्यों ? कैसा....?" चक्रवर्ती ने एक फड़कती हुई नजर अपने शरीर पर डाली और दूसरे ही क्षण ब्राह्मणों के प्रसन्न चेहरे को देखा।

"हाँ, महाराज ! आज आँखें कृतार्थ हो गईं ! जैसा सुना था, उससे भी इक्कीस है। मानव का ऐसा दिव्य सौन्दर्य पृथ्वी पर आज तक कभी देखा नहीं, सुना नहीं।"

ब्राह्मणों के मुख से इस प्रकार अपनी उन्मुक्त प्रशंसा सुनकर चक्रवर्ती के हृदय में सौन्दर्य का दर्प जग उठा। बोले—"ब्राह्मण देवता ! अभी क्या सौन्दर्य

है ? अभी तो शरीर पर न वस्त्र है, न आभूषण ! स्नान भी नहीं किया है। देख नहीं रहे हो, अभी अभ्यंगन से शरीर कितना गन्दा है ? वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर जब राजसभा में आऊँ, तब देखना, सौन्दर्य किसे कहते हैं ?"

"अच्छा महाराज !" —ब्राह्मणों ने करबद्ध नमस्कार किया। चक्रवर्ती स्नानगृह की ओर चल दिए।

कुछ ही समय बाद चक्रवर्ती सुन्दर वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत होकर, मणि-मण्डित राजमुकुट धारण किए राजसिंहासन पर आसीन हुए। दोनों ब्राह्मणों को बुलाया गया। चक्रवर्ती ने कहा— "विप्र देव ! आपको रूप देखना है न ? तो, अब देखिए।"

ब्राह्मणों ने एक गहरी नजर पूरे शरीर पर डाली और सिर धुनते हुए बोले—"महाराज ! जो बात पहले थी, वह अब नहीं रही ! मानव का सौन्दर्य क्षण-भंगुर है। पता नहीं, किस क्षण यह सोने-सी काया मिट्टी हो जाये ?"

ब्राह्मणों की बात सुनकर चक्रवर्ती को रोष-मिश्रित

आश्चर्य हुआ। बोले—"विप्र ! क्या कह रहे हो ? अरे, तब से अब तो रूपसौन्दर्य शतगुणित हो गया है। नहीं देखते, इन सुन्दर वस्त्रालंकारों से रूप कितना निखर उठा है। और तुम उसके क्षीण होने की बात कह रहे हो ?"

ब्राह्मण बोले—"हाँ, महाराज ! हम सही कह रहे हैं। तब आपका सौन्दर्य सहज था, अब आवृत है। तब यह स्वर्णलता-सी कमनीय देह बिल्कुल स्वस्थ एवं नीरोग थी, और अब........—"ब्राह्मण आगे कहते-कहते कुछ रुक से गये।

"अब क्या हो गया ?" चक्रवर्ती ने रोषपूर्वक पूछा।

"महाराज ! अब यह शरीर रुग्ण हो चला है। अन्दर ही अन्दर एक नहीं, अनेक व्याधियों के बीज फूट चुके हैं। विश्वास न हो, तो जरा थूककर देख लीजिए।"

चक्रवर्ती ने थूका तो उसमें दुर्गन्ध आ रही थी। उन्हें लगा कि जैसे शरीर के कण-कण में रोग के कीटाणु कुलबुला रहे हैं। देवोपम शरीर की नयनाभिराम दिव्यकांति म्लान होती-सी नजर आई।

कोई कोमल चम्पक-लता धूप में पड़ी मुरझा
हो। चक्रवर्ती का मन खिन्न हो गया। उन्हें
रीर की अनित्यता और निःसारता के दर्शन होने
। सोचा—"वास्तव में मानव का शरीर एक
णविनाशी पुष्प है। हवा का एक हलका-सा झोंका
डाली से गिराकर किस समय मिट्टी में मिलादे,
न जाने ? क्षण भर में ही मेरा उद्दाम यौवन,
ण्ड तेज, अनुपम रूप और सौन्दर्य पानी के बुलबुले
तरह गल गया, कान्ति हीन हो गया! नश्वर है
सब।" चक्रवर्ती का भोगासक्त सुप्त हृदय प्रबुद्ध हो
ा। तभी ब्राह्मणों ने अपना देवरूप प्रकट किया।
राज द्वारा की गई प्रशंसा और अपने द्वारा ली गई
ीक्षा की बात कहकर देवता आकाश की ओर
ले गए।

चक्रवर्ती सनत्कुमार का मन संसार के नश्वर
गविलास से उचट गया। शरीर की क्षण-भंगुरता
बोध से उनका हृदय वैराग्य की निर्बाध धारा से
प्लावित हो गया। साम्राज्य को त्यागकर मुनि
गए। कुष्ठ आदि भयंकर रोगों से शरीर का हर
ग प्रत्यंग बुरी तरह आक्रांत था। तन की वेदना
तनी तीव्र थी कि कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर

भी वे अपनी संयम-साधना में रह कर तन से मन में और मन से अंतरात्मा में उतरते गए, रोगों की तीव्र वेदना को समभाव से सहते गए। न कोई उपचार, न कोई प्रतिकार। धीर आत्माओं की वेदना और पीड़ा कहने के लिए नहीं, सहने के लिए ही तो होती हैं। उग्र तपस्या के प्रभाव से उन्हें अनेक प्रकार की लब्धि और सिद्धि प्राप्त हुईं, किंतु फिर भी अपनी व्याधियों का कुछ भी निराकरण करने का संकल्प कभी उनके मन में नहीं जगा। प्रशांत महासागर की तरह सर्वथा शांत ! नीरव !! निर्द्वन्द्व !!!

देवराज इंद्र ने एक दिन फिर मुनि सनत्कुमार की इस धीरता की प्रशंसा की—"मुनि सनत्कुमार इतनी उग्र व्याधि के होते हुए भी उसे धीरता पूर्वक सहन करते जा रहे हैं, कभी उसके उपचार के लिए आतुर नहीं होते।" प्रशंसा सुनकर वे ही दोनों देव, मुनि के अखण्ड धैर्य की परीक्षा के लिए वैद्य का रूप बना कर पृथ्वी पर आए। मुनि से बार-बार रोग का उपचार करने के लिए कहते रहे। किंतु मुनि ने कभी उनकी प्रार्थना पर कान नहीं दिए। एक दिन वैद्यराज ने विनीत, किंतु विश्वास-भरे शब्दों में कहा—"महा-राज ! आप हमारी एक, बस केवल एक बार ही

सिद्ध औषधि ले लीजिए, आपका रोग अवश्य ही शांत हो जाएगा। इस धरती पर हमारे जैसे कुशल वैद्यों के रहते हुए यदि आप जैसे तपस्वी रोगग्रस्त रहें, पीड़ा भोगते रहें, तो हमारे वैद्यत्व को शर्म आती है।"

मुनि ने कहा "वैद्यराज ! आप शरीर के रोग की औषधि जानते हैं, या कर्म-रोग की भी ?"

मुनि के प्रश्न पर वैद्यराज सहसा अचकचा गए। बोले—"महाराज ! हमारा आयुर्वेद शास्त्र तो शरीर-रोग को ही शमन करने का उपाय बताता है। इससे आगे तो उसकी गति नहीं है।"

मुनि ने अपनी अंगुली पर जरा सा थूका। और वह सोने की तरह चमक उठी। थूक के छींटे जहाँ-जहाँ गिरे, देह नीरोग होकर निखर उठी। देवता चकित होकर देखते रहे। मुनि ने कहा—"शरीर की व्याधि का उपचार तो स्वयं मेरे पास भी है। परंतु इसके उपचार से समस्या का अन्तिम समाधान कहाँ है ? तन को भी यदि कोई साधक सँभाले तो मुझे कुछ आपत्ति नहीं, पर मैं तो अंदर के स्थायी समाधान के लिए रोगों को समतापूर्वक सहे जा रहा हूँ,

मुझे उनसे कोई क्षोभ और आकुलता नहीं है। मेरी साधना में उससे कोई विघ्न नहीं आ रहा है। मैं तो एकमात्र अपने कर्म-रोग का उपचार करने में लगा हूँ और उसी के लिए समता और धीरता का दृढ़ संकल्प लिए साधना-पथ पर कदम बढ़ाए चला जा रहा हूँ।"

दोनों मित्र देव महामुनि सनत्कुमार की तितिक्षा और धीरता की प्रशंसा करते हुए चरणों में श्रद्धावनत हो गए।

—उत्तराध्ययन सूत्र, कमल संयमो १८।
—वसुदेवी हिंडी (१४ लम्बक);
वृहत्कथाकोष (हरिषेण) कथा, १२९

राजा मेघरथ का बलिदान

७

भगवान शांतिनाथ अपने पूर्वजन्म में मेघरथ नाम के दयाशील पराक्रमी राजा थे।

एक बार राजा मेघरथ अपनी पौषधशाला में पोषधव्रत स्वीकार किए धर्म-आराधना कर रहे थे। उसी समय एक विचित्र घटना घटी। पवनप्रताड़ित पत्ते की तरह भय से थर-थर कांपता हुआ एक दीन कबूतर राजा की गोद में आकर गिरा। राजा की दृष्टि कबूतर की अश्रुपूर्ण दीन आँखों पर टिक गई। आँखों में मृत्यु की तस्वीर जैसे नाच रही थी और उससे भयभीत मासूम कबूतर पंख फड़फड़ाकर अभय की याचना कर रहा था—"मुझे मृत्यु के चंगुल से बचाओ! शरण दो!"

राजा ने करुणाद्रवित हृदय से स्नेहभरा हाथ कबूतर की पीठ पर फिराया, उसे दुलारा, पुचकारा और अभय देते हुए मधुमधुर स्वर में बोला—"पारा-

वत बंधु, भयभीत न हो ! तुम मेरी शरण में आए हो, अब तुम्हें कोई भय नहीं !"

तभी राजा ने देखा कि एक झपाटे मारता हुआ बाज कबूतर पर लपका आ रहा है। उसकी खूनी आँखें कबूतर को घूर रही हैं। लपलपाता चंचल मुँह कबूतर को निगल जाने के लिए आतुर हो रहा है।

"राजन् ! यह मेरा भक्ष्य है, इसे छोड़ दीजिए। भूख से कलपती हुई मेरी आत्मा इसे खाकर शांत होगी।" बाज आतुरताभरी मानुषी-वाणी में बोला।

राजा ने बाज को मनुष की भाषा बोलते देखा, तो एक क्षण के लिए आश्चर्यचकित से रह गए। कुछ सँभल कर राजा ने बाज को समझाने का यत्न किया—"बन्धुवर, यह मेरी शरण में आगया है। मैं इसे तुम्हें नहीं सोंप सकता। जब मैंने इसे अभयदान दिया है, तो अब मृत्यु के हाथों में कैसे सोंप दूँ ? किसी भी प्राणी की हिंसा पाप है। और फिर निरपराध दीन प्राणी की हिंसा ! वह तो महापाप है। उदरपूर्ति जैसे क्षुद्रस्वार्थ के लिए क्यों अपने को महापाप के गर्त में धकेल रहे हो।

"नहीं राजन् ! मैं भूख से तड़फ कर मर

जाऊँगा। उधर कबूतर को बचा रहे हो, और इधर मेरी हत्या का पाप अपने सिर ले रहे हो, यह कहां की बुद्धिमत्ता है ? क्या यही तुम्हारा अभयदान है ? यही तुम्हारो करुणा है ? मैं मांस के बिना नहीं रह सकता, यह मेरा भोजन है।"

"—तुझे मांस चाहिए ? माँस मिलने पर तो तेरी भूख शान्त होगी न ?"—राजा ने गम्भीर होकर पूछा।

"मुझे मृत-मांस नहीं चाहिए ? मैं जीवित प्राणी का, बिल्कुल ताजा माँस चाहता हूँ। वह भी जरा-मरा सा नहीं, ठीक कबूतर का जितना।"

"अच्छा, यह बात है ? तब तो शान्त रहो, वही मिलेगा। इस कबूतर के बराबर मैं अपनी देह का माँस तुझे दूँगा। मुझे कबूतर को भी बचाना है, और तुम्हारी भूख भी शान्त करना है। इसके लिए अपने को बलिदान भी करना पड़े, तो सहर्ष करूँगा। मैं अपने और तेरे इस विवाद में किसी भी तीसरे प्राणी की बलि नहीं दे सकता। मेरे आदर्श के लिए मैं हीं उपयुक्त हूँ।" राजा की तेजस्वी आँखों में करुणा का अमृत छलक उठा।

बाज स्तंभित-सा राजा की ओर देखता रहा राजा ने तुरन्त एक तराजू मँगवाया। एक पलड़े में कबूतर को बिठलाया और दूसरी ओर चाकू से अपनी जाँघ का मांस काट-काट कर डालने लगा। राजा ज्यों-ज्यों अपना मांस काट-काट कर डालता गया त्यों-त्यों कबूतर का पलड़ा भारी होता चला गया

राज-परिवार, रानियाँ, सेवक, दास-दासी सब स्तंभित से खड़े देखते रहे। राजा की आँखों में करुणा का अपूर्व तेज दमक रहा था। अपने तन का माँस काट कर तराजू में रखते हुए हाथ बड़ी फुर्ती से चल रहा था, जैसे कोई बनिया गुड़ की ढेली काट-काट कर तराजू में रखता जा रहा हो। दोनों जंघाओं का मांस निकाल कर तराजू में रख देने पर भी कबूतर का पलड़ा जमीन से ऊपर नहीं उठा, तो राजा स्वयं तराजू के एक पलड़े में बैठ गया।

कबूतर के बदले में राजा को तुलते देखा तो समूचा राज-परिवार हाहाकार कर उठा। मंत्रियों ने निवेदन किया—"महाराज! यह आप क्या कर रहे हैं? एक कबूतर के लिए अपना जीवन बलिदान! आपका जीवन कितना मूल्यवान है। संसार के लिए कितना उपयोगी है? सोचिए महाराज!"

"आप सब इतने क्यों परेशान हैं ? जीवन क्षण-भंगुर है। वह आज जाए या कल जाए, कुछ फर्क नहीं पड़ता है। और जीवन का छोटा बड़ा भी क्या ? जीवन, जीवन सब एक है ! आप सबको मेरा जीवन जितना प्रिय और उपयोगी लगता है, उतना ही प्रिय और उपयोगी कबूतर के लिए उसका अपना जीवन है, और बाज के लिए उसका अपना जीवन ! मैं किसी बहक में अपना बलिदान नहीं कर रहा हूँ, किन्तु एक शरण में आए हुए प्राणी की प्राण रक्षा के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर रहा हूँ। शोक मत करो ! शान्त रहो। इस नश्वर शरीर का क्या मोह है ? यह तो एक दिन नष्ट होना ही है, क्यों न इसका सदुपयोग कर लिया जाय ? क्षण विध्वंसी अपवित्र देह का, पवित्र प्राणि दया के लिए बलिदान करने का अवसर संसार में किसी भाग्यशाली को ही मिलता है"—कहते-कहते राजा मेघरथ की गंभीर वाणी अब शिथिल पड़ने लग गई थी। किन्तु असह्य और तीव्र वेदना होते हुए भी उनके चेहरे पर अपार प्रसन्नता और शान्ति थी।

चारों ओर मध्यरात्रि का सा सन्नाटा था। तभी वातावरण की निःस्तब्धता को भंग करता हुआ एक

तेज:पुञ्ज आकाश से उतरा और राजा के चरणों में नत-मस्तक हो गया। सब लोग चकित-भ्रमित से देखते रह गए। अब न वहाँ कबूतर था, न बाज। राजा ने आँख खोली तो एक दिव्य रूप धारी देव बार-बार उनके चरणों में झुक कर वन्दना कर रहा था। "महाराज! धन्य है आपकी करुणा! ऐसी महान करुणा के दर्शन करके मैं कृत-कृत्य हो गया। अपराध क्षमा कीजिए। मैंने ही परीक्षा के लिए यह सब माया रची थी। आप को यह उत्कृष्ट करुणा संसार में सदा-सदा के लिए बलिदान का एक प्रेरक प्रसङ्ग बनकर जीवित रहेगी।"

करुणावतार राजा मेघरथ के चरणों में नमस्कार कर देवता लौट गया। परन्तु राजा मेघरथ के अन्तर्मन में प्रवाहित हुई करुणा की धारा न लौटी। वह अन्दर-ही-अन्दर बहती रही, जन्म-जन्मान्तरों तक बहती रही, और अन्ततः शान्तिनाथ भगवान के दिव्य जीवन में आकर तो वह अनन्त असीम रूप में विश्व जीवन के प्रति प्रवाहित हो गई।

—वसुदेव हिंडी, (२१ लम्भक)

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित ५।४

दया-मूर्ति : धर्मरुचि अनगार

८

बहुत पुराने युग की बात है। चम्पा नगरी में सोमदेव, सोमभूति और सोमदत्त नाम के तीन ब्राह्मण-बन्धु रहते थे। उनकी पत्नियां थीं यथाक्रम—नागश्री, यज्ञश्री और भूतश्री। घर की व्यवस्था के लिए तीनों के काम-काज की बारी बाँध रखी थी। अपनी-अपनी बारी के दिन घर का भोजन, सफाई आदि सब काम वे अपने आप निपटा लेती थीं।

एक दिन भोजन बनाने की बारी नागश्री की थी। उसने तुम्बी (लौकी) का साग वनाया। साग को जायकेदार तेज मसालों और बढ़िया छोंक से बहुत ही स्वादिष्ट बनाने का उपक्रम किया। आज सबेरे से ही अपनी भोजनकला की दक्षता का अहंकार लिए नागश्री पाकशाला में नाच रही थी। किंतु नागश्री ने साग का अन्तिम परिपाक देखने के लिए ज्योंही एक टुकड़ा चखा, तो तुम्बी की कडुआहट से

समूचा मुख, मानो जहर से भर गया। मधुर तुम्बी की जगह कडुवी तुम्बी आगई थी, भूल से। नागश्री ने चुपचाप उसे एक ओर रखा और झटपट दूसरा साग बना कर सब लोगों को यथासमय भोजन करवा दिया। नागश्री के अब जी में जी आया कि चलो, इज्जत रह गई। अन्यथा पता चल जाता तो देवरानियाँ कितना मजाक उड़ातीं और परिवार में मेरी कितनी अवहेलना होती।" अब नागश्री को एक ही चिन्ता थी कि छिपा कर रखे साग को कब और कहाँ डाले, ताकि किसी को इधर-उधर पता न लगे।

चंपानगरी में धर्मघोष नाम के आचार्य आये हुए थे। उनके शिष्य धर्मरुचि मुनि एक मास की तपस्या का पारणा लेने के लिए भिक्षाटन करते हुए नागश्री के गृह-द्वार पर आ गए। नागश्री ने मुनि को आते देखा, तो सोचा—"चलो, अच्छा हुआ। कुरडी अपने आप घर पर आगई। वह कडुवे तुम्बे का साग इस मुनि को ही क्यों न देदूँ? बाहर फेंकने की बेगार मिटी।"

मुनि ने आहार की शुद्ध एषणा करके ज्योंही पात्र आगे किया कि नागश्री ने एक ही झटके में

तुम्बी का सब-का-सब साग बस-बस और नहीं-नहीं करते हुए भी मुनि के पात्र में उँडेल दिया। मुनि धर्मरुचि आगे नहीं गये। क्षुधा-पूर्ति के लिए उन्हें साग ही पर्याप्त लगा। अस्तु, खाली साग लेकर ही गुरू के पास लौट आये। गुरू ज्ञानी थे, साग की कड़वी गन्ध से उन्हें कुछ सन्देह हुआ और ज्योंही एक बिन्दु लेकर चखा तो गुरू ने मुनि से कहा—"वत्स ! यह साग अत्यन्त कटु है, एक प्रकार का विष ही है। खाते ही शरीर में जहर फैला देगा। इसलिए इसे किसी एकान्त और शुद्ध निर्जीव स्थान पर ले जाकर डाल आओ।"

तपस्वी धर्मरुचि गुरु की आज्ञा पाकर साग को परठने (एकान्त में डालने) के लिए उद्यान के बाहर गए, और इधर-उधर विशुद्ध स्थान देखने लगे। प्रतिष्ठापन के योग्य एकान्त स्थंडिल (स्थान) में जाकर मुनि ने ज्योंही पात्र नीचे रखा और परीक्षा के लिए धीरे से साग का एक बिन्दु भूमि पर डाला कि घी की तीव्रगन्ध से कुछ ही क्षणों में हजारों चींटियों का ढेर लग गया। साग इतना अधिक जहरीला था कि जो भी चींटियाँ सूँघती, खातीं, वहीं ढेर हो जातीं। एक बूँद पर हजारों चींटियों के प्राणों की

बलि होते देखकर तपस्वी मुनि का अन्तः करण करुणा से द्रवित हो गया। सोचा, "एक बूँद पर सहस्राधिक चींटियाँ ढेर हो गईं, तो न जाने, इस पात्रभर साग के कारण तो कितने जीवों के प्राण चले जायँगे ? क्या एक प्राण को रक्षा के लिए असंख्य प्राण बलि होने दिए जायँ ? मुझे अपने प्राण प्रिय हैं, तो क्या इन असंख्य छोटे-छोटे प्राणियों को अपने प्राणों से मोह नहीं है ? नहीं ! अपने प्राणों की रक्षा के लिए असंख्य जीवों की हत्या का निमित्त मैं नहीं बनूँगा।"

मुनि के हृदय में करुणा का महासागर हिलोरें मारने लगा। जीव-दया के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने में उन्हें कोई भय नहीं हुआ। सोचा—"गुरू ने कहा है, एकान्त स्थान में डालना, जहाँ किसी प्राणी को कष्ट न हो। पर ऐसी तो कोई जगंह मुझे नहीं मिली........हाँ, मेरा उदर ही ऐसी जगह है जहाँ डालने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होगा........किसी पर के प्राणों की घात नहीं होगी"—और मुनि ने पात्र को मुँह के पास ले लिया। विष का कड़वी गंध से शिर जैसे फट रहा था, पर, परम शान्त और प्रसन्न भावों से मुनि ने वह पूरा-का-पूरा

साग बिल में साँप की तरह गले से नीचे उतार दिया।

जहर किसी का बन्धु नहीं। साग के तीक्ष्ण जहर का असर मुनि के शरीर पर होने लगा, नख नीले पड़ गए, चेहरा विवर्ण हो गया, पेट में भयंकर दाह लग गई, समूचा शरीर उसके तीव्र प्रभाव से आक्रांत हो गया, परन्तु मुनि का मन परम प्रसन्न था। वहाँ करुणा का अमृत छलछला रहा था। दया की रस-धारा बह रही थी। कड़वा तुम्बा खाकर भी मन मधुरता से भरा था। जहर देने वाली के प्रति भी उनके मन में करुणा का अमृत छलक रहा था। यही तो उनकी साधुता थी कटुता के बदले में मधुरता !

मुनि ने शान्त भाव से यथाविधि अनशन किया, आत्म-आलोचना की, जीवन की अन्तिम समाधि के हेतु कषाय भाव का उपशमन कर संसार के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री और करुणा की भावना भाते हुए शीघ्र ही देह छोड़ कर ऊर्ध्वलोक चल दिए, सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में एकभवी अनुत्तर-वासी देव हो गए।

—ज्ञाता धर्म कथा, १।१६

बलिदान की अमरगाथा

९

बहुत प्राचीन काल की बात है, श्रावस्ती में जितशत्रु नामका राजा था। उसका पुत्र था राजकुमार स्कन्दक। स्कन्दक बहुत ही प्रतिभाशाली और तेजस्वी युवक था। साथ ही धर्मनिष्ठ भी। स्कंदक की बहिन पुरंदरयशा कुंभकारकटक के दंडकी राजा को ब्याही गई थी। दंडकी बड़ा उद्धत और विचारशून्य राजा था। उसका पुरोहित पालक बहुत ही दुष्ट, क्रूर एवं धर्मद्वेषी था। दंडकी राजा का वह दाहिना हाथ था। राज्य में पालक जो चाहता, वह होता।

एक बार पालक श्रावस्ती में आया तो स्कंदक के साथ उसकी धर्मचर्चा छिड़ गयी। पालक राजसभा में धर्म की निन्दा करने लगा, तो स्कंदक ने उसे वह मुँह तोड़ उत्तर दिया कि पालक अपना सा मुँह लेकर रह गया। इस पराजय से पालक स्कंदक का

दुश्मन हो गया, और मन में बदला लेने का दुर्भाव लिए कुंभकार कटक लौट आया।

एक बार राजकुमार स्कंदक ने बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रत स्वामी का उपदेश सुना और अपने साथी पाँच-सौ कुमारों के साथ दीक्षा लेकर धर्म प्रचार के लिए जनपद में विहार करने लगा।

मुनि स्कंदक के मन में एक बार अपनी बहन और बहनोई को धर्म उपदेश देने का विचार आया। उन्होंने प्रभु के पास आकर कुंभकार कटक की ओर जाने की अनुमति माँगी।

भगवान ने कहा—"स्कंदक! वहाँ तुम्हें भयंकर (मारणांतिक) उपसर्ग होगा, ऐसा भयंकर कि तुम साधुओं के प्राण भी ले लेगा।"

"भगवन्! मरने से क्या डरना? पर, यह बताइए, हम अपने संयम (चारित्र) के आराधक तो होंगे न?" मुनि स्कंदक की वाणी में क्षत्रियत्व का अपूर्व ओज प्रदीप्त हो रहा था।

"स्कंदक! तुम्हारे सिवाय, बाकी पाँच सौ शिष्य सब आराधक होंगे।"

"अति सुन्दर भगवन् ! मैं न सही, किन्तु मेरे साथ के दूसरे तो सब संसार-सागर तैर सकेंगे ।"

कभी-कभी जिस काम को टालने की कोशिश की जाती है, वही काम सबसे पहले होता है। इसे ही भावी या भवितव्यता कहा जाता है। इसी भवितव्यतावश मुनि स्कंदक पाँच सौ शिष्यों के साथ विहार करते हुए कुंभकार कटक पहुंच गए। नगर के बाहर एक उद्यान था, वहीं पर सब मुनि जन ठहर गए।

इधर पुरोहित पालक को ज्यों ही पता चला कि स्कंदक मुनि पांच सौ साधुओं के साथ नगर के बाहर उद्यान में आये हैं, तो उसका सोया हुआ वैर का विषधर सर्प फुंकार उठा। उसने सोचा—"स्कंदक अब मेरे पंजे में आ गया है, अपने अपमान का पूरा बदला ले लेना चाहिए। ताकि फिर कभी कोई धर्माभिमानी मेरे सामने अँगुली उठाने का साहस ही न करे।"

पालक ने एक गुप्त षड्यन्त्र रचा। जिस उद्यान में मुनि ठहरे थे, उसके बाहर बड़े तीक्ष्ण और भयंकर शस्त्र भूमि में गड़वा दिए। और स्वयं मुँह बनाये राजा के पास पहुँचा।

राजा ने पुरोहित को उदास और चिंतित सा देखा तो पूछा, "पालक ! तुम्हारे निर्मल मुखचन्द्र पर चिन्ता की काली रेखा क्यों है ? भला तुम इतने उदास और खिन्न क्यों हो ?"

पालक ने गंभीर होते हुए कहा—"महाराज ! हम लोग बड़े खतरनाक षड्यन्त्र में फँस रहे हैं। आप का साला स्कन्दक, आपका राज्य हड़पने के लिए, अपने पाँच सौ वीर योद्धाओं को साथ लिए हमारे नगर में आया है। हम लोग अभी तक हाथ पर हाथ रखे बैठे हैं, उसके प्रतिरोध का कोई उपाय भी नहीं सोचा है।"

राजा दंडकी आँखें फाड़कर पालक के मुख की ओर देखता रह गया—"पालक ! क्या कह रहे हो ? स्कन्दक तो अपना ही राज्य त्यागकर साधु बन गया है। वह तो अहिंसा का देवता है। उसे मेरा राज्य क्यों चाहिए ? सुना है, पाँच-सौ शिष्यों के साथ घूमता हुआ धर्मोपदेश करने के लिए यहाँ आया है।"

"महाराज ! धर्म से बढ़कर और ढोंग क्या हो सकता है ? इसी के नाम से दुनियाँ धोखा खाती रही है। स्कन्दक साधु के वेश में आपका शत्रु बनकर

आया है। पाँच-सौ सुभटों को साधु वेश पहनाया गया है, ताकि आप और आपके सेनानायकों को धोखे में लेकर सफाया कर दिया जाए और बड़ी ही आसानी से राज्य पर अधिकार हो जाए? आप को विश्वास न हो तो चलिए, मैं आपको गुप्तरूप से जमीन में गड़े हुए उसके भयंकर शस्त्रास्त्र दिख लाऊँ।"

राजा को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वह अँधेरीरात में पालक के साथ उद्यान के बाहर वाले मैदान में पहुंचा। पालक ने जगह-जगह गड़े हुए शस्त्र दिखलाये। राजा देखते ही पागल हो गया—"पालक! भयंकर धोखा है! तुमने बचा दिया, वर्ना ये दुष्ट राज्य की ईंट-से-ईंट बजा देते। पकड़ो इन दुष्ट साधुओं को, और जैसा चाहो वैसा दंड देकर राज्य की सुरक्षा को सुदृढ़ करो।"

बस अंधे को और क्या चाहिए, दो आँख! पालक को राजा का मन चाहा आदेश मिल गया। अब वह अपनी मनमानी करने पर तुल गया। उसने उद्यान के बाहर पहरा लगा दिया कि किसी भी साध को निकलने न दिया जाय। और नगर के किसी भी आदमी को भीतर घुसने न दिया जाय।

पालक एक बड़ा कोल्हू (घानी) और जल्लादों को साथ लेकर क्रूर हँसी हँसता हुआ स्कन्दक मुनि के समक्ष पहुंचा। रौद्र जल्लादों के हाथ में चमचमाते खंजर देखकर स्कन्दक मुनि परिस्थिति की विकटता को ताड़ गए। तत्क्षण भगवान मुनिसुव्रत स्वामी की भविष्य-वाणी उनके मस्तिष्क में बिजली की तरह कोंध गई—"स्कन्दक, वहाँ तुम्हें भयंकर मारणांतिक उपसर्ग होगा।"

पालक ने देखा—"जल्लादों के हाथ में चमचमाते खंजर देखकर भी स्कन्दक उसी तरह स्थिर और शान्त बैठा है। उसके चेहरे पर म भय है, न आतंक!" क्रूर अट्टहास करता हुआ पालक स्कन्दक के निकट आया "स्कन्दक! सावधान हो जाओ! आज तुम सब की मौत खड़ी पुकार रही है, योगिनियां खप्पर लिए तुम्हारे पाँच सौ शिष्यों का रक्त पीने की प्रतीक्षा में बैठी हैं। याद है, राजसभा में मेरा अपमान करके उस दिन तुमने अपने धर्म और भगवान की तूती बजाई थी! याद करो, अपने धर्म को, अपने भगवान को! देखता हूँ, आज तुम्हें इस मृत्यु के मुख से बचाने के लिए कौन आता है! अभी एक-

एक करके पाँच सौ एक को इसी कोल्हू में पिलवा देता हूँ।"

स्कन्दक अविचल बैठे पालक की क्रूरवाणी सुन रहे थे। वे मौन एवं शान्त थे, किसी गम्भीर विचार में डूबे हुए थे।

"कायर स्कन्दक! चुप क्यों बैठे हो? आज अपने भगवान को पुकारो! तुम्हारी रक्षा करने आये! अपने शिष्यों को बचाने का प्रयास क्यों नहीं करते? अपनी शरण में आए हुओं को धोखा दे रहे हो, क्षत्रिय होकर! देखो, तुम्हारी आँखों के सामने एक-एक चेले को पिलवा रहा हूँ।"–खंजर को आकाश में घुमाते हुए पालक ने जल्लादों को आदेश दिया, "पकड़ो एक-एक साधु को और डालो कोल्हू में।"

स्कन्दक का धैर्य हिमालय से टक्कर ले रहा था। उनकी तेजस्वी वाणी गूँज उठी—"पालक, यह नग्न क्रूरता और यह वर्बर अत्याचार किस लिए कर रहे हो! व्यर्थ ही पवित्र जीवन जीने वाले निरपराध साधुओं का खून बहाने पर क्यों तुले हो? मुझे बताओ तो सही, इन आत्मार्थी एवं करुणामूर्ति साधुओं ने तुम्हारा क्या अपराध किया है?"

"अपराध ? क्या अपना किया इतनी जल्दी भूल गए ? उस समय तुम्हें अपने अपराध का भान नहीं हुआ; जब तुमने राजसभा में मेरा अपमान किया था। मेरा खून खौल उठा था, किन्तु परिस्थितिवश तब मैं जहर का वह कड़वा घूँट पीकर रह गया। आज उसका बदला लेना है। और बतलाऊँ अपराध ? आत्मा का, परमात्मा का, और धर्म का नाम लेने वाले सब मेरे अपराधी हैं। घोर अपराधी ! उनके लिए एकमात्र यही दण्ड है, मृत्युदण्ड।" पालक की आँखों में जैसे खून बरस रहा था !

"अबोध पालक ! आत्मा, परमात्मा और धर्म को मानने वाला तुम्हारी तरह कभी क्रूर अत्याचार नहीं कर सकता। वह जब भी करता है, संसार का भला करता है। तुम अभी अहंकार और प्रतिशोध की आग में जल रहे हो, विवेकबुद्धि को खो चुके हो। अपने दुष्कर्म के दूरगामी परिणामों को नहीं देख रहे हो। मैं तुम्हें एक बार फिर कहे देता हूँ— साधुओं को मत सताओ ! इनके खून से धरती को लाल मत बनाओ। अत्याचार का परिणाम भयंकर होता है। एक-न-एक दिन दुष्कर्मों की आग मनुष्य को भस्म कर डालती है।"

"अहा....हा....भस्म ! देखता हूँ, अब कौन मुझे भस्म करने आता है ? भगवान् ! देवता ! या तुम्हारा धर्म.... ?" पालक के भयंकर अट्टहास से आस-पास की दीवारें कांप उठीं ।

पालक के निर्दय हाथ चंचल हो उठे । वह साधुओं को पकड़ पकड़ कर कोल्हू में फेंकने लगा । उधर पालक मुनियों को कोल्हू में पीलता रहा, इधर आचार्य स्कन्दक अगाध धैर्य लिए शिष्यों का मनोबल दृढ़ करते रहे, मृत्यु के मुँह में जाते-जाते उन्हें समाधि-निष्ठ बनाते रहे, कृत कर्मों की आलोचना, प्रत्याख्यान और संलेखना कराके उन्हें जीवन के उच्चतम आदर्श पर आरूढ़ करते चले गये । और धर्मवीर शिष्य एक के बाद एक हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करते रहे ।

चारों ओर रक्त की धाराएँ बह चलीं । इधर-उधर बिखरे मांस पिंडों पर आकाश में गीध मँडराने लगे । एक ओर हड्डियों का ढेर लग गया, जिस पर खड़ा होकर पालक क्रूर दैत्य की तरह निर्मम अट्टहास कर रहा था । यह बीभत्स और भयंकर दृश्य आचार्य स्कन्दक ने देखा तो आँखों के सामने एक बारंगी अँधेरा छा गया, हृदय अवसन्न हो गया ।

शिष्यों के स्नेह से आँखें छलछला आईं, पर तुरन्त ही उन्होंने उस दृश्य से मुँह फेर लिया और मौत के मुँह में जाते हुए शेष शिष्यों को जीवन की अन्तिम आराधना कराने में जुट गए।

देखते-देखते आचार्य के चार सौ निन्यानवें शिष्यों को तिलों की तरह निर्दयता-पूर्वक कोल्हू में पील दिया गया। अब एक छोटा साधु रह गया था। अंग-अंग पर नव-तरुणाई खेल रही थी, बड़ा सुकुमार और सलोना, आज्ञाकारी और विनीत, साथ ही आचारनिष्ठ भी। उस पर आचार्य का अत्यधिक स्नेह और प्यार था। अतएव उसकी बारी आई, तो आचार्य का हृदय दहल उठा, धैर्य का महासागर जैसे मर्यादा तोड़ कर बह गया—"पालक! इस एक शिष्य को तो छोड़ दे। ये आँखें इसको तरबूज की तरह पिलता नहीं देख सकतीं। तेरा अपमान मैंने किया था। तू मेरा जो चाहे कर सकता है। इसने तेरा क्या बिगाड़ा है? बस, बहुत हो गया। अति बुरा होता है।"

"अच्छा....! पता चला अब। तुम्हें चार सौ निन्यानवें का कोई दुःख नहीं हुआ। दुःख इसी का है, न? तो लो, पहले तुम्हारे सामने इसी को पिलवा

कर मजा लेता हूँ। जरा आँख खोल कर देखना कैसे पिलता है।" पालक के क्रूर हाथों ने क्षुल्लक साधु को आ पकड़ा।

"—गुरुदेव! मैं जा रहा हूँ। अपने हृदय को शान्त रखिए, मेरे मोह में व्याकुल न होइए। अब आप अपनी आराधना कीजिए। अन्तिम वन्दना!" —कहते-कहते क्षुल्लक साधु भी कोल्हू में चर-चर पील दिया गया।

"स्कन्दक उठो। अब तुम्हारी बारी है! किसी को याद करना है, तो करलो! तैयार हो जाओ!"

आचार्य का धैर्य टूट गया। वे क्रोध से धमधमा उठे। पाँच सौ शिष्यों को अन्तिम आराधना करवा के संसार से मुक्त कराने वाले आचार्य अपनी आराधना करना भूल गये। आँखों में खून बरस पड़ा, क्रोध से हाथ-पाँव काँपने लग गए—"पापी पालक, तेरे पाप का घट भरचुका है। तूने मेरे सामने एक दो नहीं, पांच सौ प्रिय शिष्यों को कोल्हू में पील दिया। वर्वरता और निर्दयता की हद हो गई। परन्तु सुनले, इसका परिणाम तुझे भुगतना पड़ेगा। तेरा, तेरे परिवार का और तेरे राजा का सत्यानाश करने वाला मैं होऊँगा। यदि मेरी तपस्या का कुछ

भी प्रभाव है, तो देख लेना, तुम सबको भस्म करके रहूँगा। तू ही क्या, यहाँ की सारी प्रजा ही अत्याचारी है। इतना भयंकर अत्याचार ! निरपराध भिक्षुओं का निर्मम संहार ! ! फिर भी जनता की ओर से कोई विरोध नहीं, कोई प्रतिरोध नहीं। सब-के-सब एक ही विषबेल के तूंबड़े हैं। ये सब भी मेरे क्रोध से बचेंगे नहीं।" क्रोध और आवेश के वेग से आचार्य के होठ फड़फड़ा रहे थे। उन्हें भले-बुरे का भान नहीं रहा।

पालक अब भी नहीं सँभला, उसने अट्टहास करते हुए कहा—"जी हाँ, देख लूंगा तुम्हारे तप का प्रभाव। जीते जी कुछ न कर सके तो अब मर कर क्या करोगे ?" पालक ने मजाक उड़ाते हुए अपने हाथों से आचार्य को पकड़ा और कोल्हू में डाल कर पील दिया।

पालक के भयंकर पाप से धरती जैसे रक्तरंजित होकर रो उठी। उद्यान में एक भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया। कहीं पर हड्डियों का ढेर लगा पड़ा है, तो कहीं मांसपिंडों पर गीध, कौवे और चील मँडरा रहे हैं। कहीं मुनियों के वस्त्र, रजोहरण और पात्र लहू से सने हुए पड़े हैं, तो कहीं उन्हें ही मांस-पिंड समझ कर मुँह में दबाये गीध आकाश में उड़े

जा रहे हैं। एक गीध रक्त से लथपथ रजोहरण को लिए आकाश में उड़ा जा रहा था कि अधिक भार होने के कारण रजोहरण चोंच से गिर कर महारानी पुरंदरयशा के महलों में आ पड़ा। महारानी ने रक्त-रंजित रजोहरण को देखा तो चोंक पड़ी। "साधु का रजोहरण और वह रक्त से सना हुआ ?" एक भयंकर दुष्कल्पना से उसका रोम-रोम सिहर उठा। कलेजा धक-धक करने लग गया। रानी ने दासियों से पता लगवाया—"उद्यान में ठहरे हुए मुनियों का कुशल-क्षेम तो है न ?"

"महारानी, भयंकर अन्याय ! घोर अत्याचार ! उद्यान में ठहरे हुए पाँच-सौ एक मुनियों को दुष्ट पालक ने कोल्हू में पिलवा दिया !" दासी पूरी बात भी न कह पायी थी कि एक भयंकर चीत्कार के साथ रानी मूच्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। जब होश आया, तो वह राजा को धिक्कारने लगी, पापी पालक पर थू-थू करने लगी। मन की भयङ्कर पीड़ा से छटपटाती हुई वह अपने भाई स्कंदक मुनि को याद करके बार-बार मूछित होने लगी। किसी दयालु देवता ने उसे उठाकर जहाँ भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी विहार करते थे, वहाँ पहुंचा दिया। पुरंदरयशा

भगवान् की वाणी श्रवण कर स्वस्थ हुई और आखिर विरक्त होकर प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गई।

आचार्य स्कंदक अपने पूर्व संकल्प के अनुसार अग्निकुमार देवताओं में उत्पन्न हुए। ज्ञान से जब अपनी मृत्यु का कारण देखा, और उसी उद्यान में पाँच-सौ मुनियों की देह के टुकड़े-टुकड़े हुए देखे, तो सहसा भयङ्कर क्रोध भड़क उठा। वे विकराल रूप लिए आकाश में आकर पालक को ललकार उठे— "दुष्ट पालक! सावधान। मैं हूँ स्कन्दक, अब तेरी खैर नहीं है, संसार में कहीं भी तुझे छिपने को जगह नहीं है। अभी तुझे अपने क्रूर पाप का दण्ड मिलने वाला है"। पालक ने आकाश में खड़े विकराल देव को देखा, तो उसके प्राण कांप उठे। वह हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाने लगा, मौत को शिर पर खड़ा देखकर इधर-उधर पागल की भांति दौड़ने लगा।

देवता ने एक भयङ्कर हुंकार की और आकाश से दहकते हुए अंगारे बरस पड़े। धू-धू करके नगर के कोट, कंगूरे और महल जल उठे। नगर-जन हा-हा कार करते हुए इधर-उधर भागने लगे, तो चारों ओर दरवाजे बन्द थे। कोई कहीं भी निकल नहीं

सका, भाग नहीं सका। भीतर-ही-भीतर दुष्ट पालक, राजा दंडकी और हजारों-लाखों नागरिक, और अगणित पशु-पक्षी भी आग में जलकर स्वाहा हो गए। दूर-दूर तक के पेड़ पौधे, घास-पात जल कर राख होते चले गये। भूमि जल कर काली पड़ गई। योजनों तक कहीं कोई प्राणी तो क्या, वनस्पति तक नहीं बच सकी। कहते हैं, वर्षों तक उस भूमि की ऊष्णता शान्त नहीं हुई। युग-युग तक उस पर कोई नया अंकुर नहीं फूट सका। पुराणकारों की दृष्टि में वह भूमि दण्डकारण्य है, जो हजारों लाखों वर्ष बीत जाने पर आज भी विवेकहीन दंडकी राजा और दुष्ट पालक की क्रूरकथा को अपने में समेटे हुए है। यह भी कहा जाता है कि वही दण्डकी अपने घोर पापों का फलभोग करते हुए जटायु के रूप में अवतरित हुआ, और मर्यादापुरुषोत्तम राम के पावन सम्पर्क से पुरातन पापों का प्रायश्चित्त कर जीवन की अन्तिम घड़ियों में आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर हुआ।

—उत्तराध्ययन, २ अध्ययन (कमल संयमी टीका)

—त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित्र, ७।५

सेवाव्रती नंदीषेण | १०

बचपन में ही उसके माता-पिता की मृत्यु हो गई थी। संसार के चौराहे पर वह अनाथ, लक्ष्यहीन इधर-उधर भटक रहा था। शरीर उसका अत्यन्त कुरूप था, इतना कुरूप कि स्वयं कुरूपता भी देखे तो डर जाए। साथ ही वह बुद्धि-हीन भी था। बात बात पर क्षुब्ध एवं क्रुद्ध हो उठने की बहुत बुरी आदत भी थी उसकी। संसार में उसका कोई अपना नहीं था। जीवन में उसके चारों ओर निराशा का घोर अंधकार छाया हुआ था। मामा को दया आई तो उसे अपने घर पर रख लिया। वह मामा के यहाँ सेवा चाकरी करता और जीवन गुजारता। फिर भी वासना की विडम्बना देखिए कि रूप एवं गुण से हीन होने पर भी विवाह करने की तीव्र अभीप्सा उसके मन को कचोटती रहती थी। परन्तु ऐसे कुरूप एवं दरिद्र अनाथ व्यक्ति को भला कौन माता पिता

अपनी कन्या देकर उसके जीवन के साथ खिलवाड़ करे।

एक दिन उसकी तीव्र मानसिक-पीड़ा को शान्त करते हुए मामा ने कहा--"नंदिषेण ! यों घबराओ नहीं। संसार में तुझे कोई कन्या नहीं देता, तो क्या हुआ, मेरे सात पुत्रियाँ हैं, उनमें की एक पुत्री मैं तुझे दे दूँगा।"

मामा के सान्त्वना भरे वचनों से नंदीषेण का धाँय-धाँय करके जलता हुआ हृदय जैसे शान्त हो गया, उसकी आँखों में चमक आ गई – "संसार में मुझे भी कोई कन्या देने वाला है। अब मेरा भी विवाह हो सकेगा।"

पिता के ये वचन जब पुत्रियों ने सुने तो वे सब एक साथ आँखें चढ़ाकर बोल उठीं "पिताजी ! चाहे तो हमें जहर दे देना, फाँसी पर चढ़ा देना, अन्धे कुएँ में फेंक देना, किन्तु नंदीषेण के साथ शादी करके हमें जीवन भर तिल-तिल जलाते रहने का महापाप मत करना।"

नंदीषेण ने जब यह बात सुनी तो उसका रोम-रोम जल उठा। हृदय आत्म-ग्लानि से भर गया। जिन

स्त्रियों के लिए वह संसार के रंगीन सपने देखता है, वे स्त्रियाँ उसे काले नाग से भी भयंकर समझती हैं— यह जान कर वह क्षुब्ध हो उठा, उसकी आँखों के सामने घोर अन्धकार छा गया।

नन्दीषेण कुछ दिन तो मन मारकर मामा के घर पड़ा रहा। परन्तु वह अपने को शान्त न कर सका। उसके मन में जहर-बुझे तीर की तरह एक ही बात सालती रही कि संसार में मुझे कोई नहीं चाहता। आखिर मेरे जीते रहने का कुछ मतलब? और एक दिन वह इसी कुण्ठा का मारा घर से निकल पड़ा। इधर-उधर भटका, शान्ति नहीं मिली। आखिर, इस दुःख भरे निराशामय जीवन को समाप्त करने के लिए पहाड़ की ऊँची चोटी से छलांग मारने को तैयार हो गया। तभी पर्वत शिखरपर खड़े एक ध्यानस्थ मुनि ने इस युवक को आत्महत्या का प्रयत्न करते देखा, कि वह छलांग लगाने को तैयार होता है, पर नीचे भयंकर गर्त देखकर सहम जाता है और सहसा पीछे हट जाता है। पुनः साहस करता है, आगे बढ़ता है, और फिर नीचे की ओर देखकर ठिठक जाता है।

"वत्स! क्यों अपने अनमोल मानवजीवन को

समाप्त करने पर तुले हो ? जरा ठहरो ! बताओ तो सही, आखिर क्या बात है ?"

नंदीषेण अनजानी आवाज सुनकर चौंक उठा, उसके पाँव वहीं जमीं में गड़ गए। उसने देखा—सामने ही एक तपस्वी खड़े उसे पुकार रहे हैं। मुनि के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने उसे आकृष्ट किया, वह उनके चरण कमलों में पहुँच गया।

"वत्स ! तुम किसलिए यह झंपापात कर रहे हो ? भला, यह बहुमूल्य नरजीवन यों व्यर्थ ही घबराकर समाप्त करने के लिए है ?"

"भगवन् ! मैं अनाथ ब्राह्मण-पुत्र हूँ। संसार में मेरा कोई अपना नहीं है। इस जीवन से मैं ऊब गया हूँ। अब मैं संसार में जीना नहीं चाहता। जीकर करना भी क्या है ? मुझे शान्ति नहीं, सुख नहीं। कोई भी कन्या मुझ से विवाह करना नहीं चाहती। जब कोई मुझे नहीं चाहता तो अपने आपको मिटा देना ही ठीक है।"

मुनि ने उसे स्निग्ध एवं मधुर वाणी में मार्मिक उपदेश दिया—"वत्स ! जीवन से भागकर शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। भागने वाला न इस

जीवन में शान्ति पाता है, न अगले जीवन में। अपने जीवन को बदलो, भोग की ओर नहीं, त्याग की ओर मुड़ो। जिस छाया को पकड़ने तुम दौड़ रहे हो, वह तो तुम्हारी दासी बनकर सामने खड़ी हो जाएगी। जरा मुड़ने की जरूरत है। तुम किसी को मत चाहो, स्वयं चाह ही तुम्हारी चेरी बन जाएगी।"

मुनि के उपदेश का चमत्कार हुआ। नंदीषेण का हृदय बदल गया, अन्धकार में प्रकाश मिल गया। वह साधु बन गया, तपस्वी बन गया, और सेवा की उच्च भावना उसके हृदय में जग उठी। उसने अभिग्रह (संकल्प) किया कि "जीवन भर दो-दो दिन का उपवास करते हुए पारणे में आयंबिल करूँगा, और किसी भी बालक, वृद्ध, रोगी, तपस्वी साधु की सेवा के लिए प्रत्येक क्षण तैयार रहूंगा।"

मुनि नंदीषेण की तपस्या और उसके साथ साथ आदर्श सेवा दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गई। फूलों की महक हवा ले उड़ती है। उसकी सेवा में सरलता थी, निष्ठा थी, सहज स्नेह था, किसी भी प्रकार की जुगुप्सा का भाव नहीं था। सेवा ही उसके जीवन का आनन्द बन गया। जो मन विवाह करके किसी एक को

अपना वनाने के लिए तड़पता था, वह अव सेवा के रस में शराबोर होकर सव को अपना मानने लग गया। उसके आनन्द के द्वार खुल गए, सेवा ही उसका जीवन-व्रत वन गया।

एक दिन देवराज इन्द्र ने देवसभा में मुनि नंदीषेण के अग्लान और उत्कृष्ट सेवा-भाव की प्रशंसा की। दो देवताओं को यह प्रशंसा अखरी। उन्होंने वास्तविकता की परीक्षा के लिए मुनि-वेश बनाया। एक मुनि नंदीषेण के पास आया और बोला—"ऐ नंदीषेण! क्या तेरा यही सेवाव्रत है? ढोंगी, गाँव के बाहर एक मुनि अतिसार रोग से ग्रस्त हुए पड़े हैं, पीड़ा से व्याकुल छटपटा रहे हैं और तू यहाँ खाने पर मर रहा है?"

मुनि नंदीषेण बेले का पारणा करने बैठे ही थे। मुनि की बात सुनते ही भिक्षापात्र एक ओर रख दिया। मुँह में एक घूँट पानी डाले बिना ही रुग्ण मुनि की सेवा के लिए चल पड़े। अनेक घरों में फिरने के बाद नंदीषेण को शुद्ध प्रासुक जल मिला, उसे लेकर गाँव के बाहर मुनि के निकट पहुंचे। मुनि को अतिसार हो गया था, समूचा शरीर व कपड़े मल से

भरे हुए थे। बडी दुर्गन्ध आ रही थी। किन्तु नंदीषेण ने बिना किसी प्रकार की घृणा किए मुनि के शरीर को साफ किया, कपड़े बदले और अपने कंधे पर बिठला कर उपाश्रय की ओर चल पड़े।

मार्ग में मुनिरूपधारी देव ने बार-बार अतिसार किया, जिससे नंदीषेण के सब वस्त्र और शरीर मल से भर गए। आस-पास में चलते लोग दुर्गन्ध से नाक बंद करने लगे, पर नंदीषेण शान्त और सहज भाव से मुनि को उठाए चलते रहे। चलते-चलते विषम भूमि पर पाँव ऊँचा नीचा गिरने लगता तो रुग्ण मुनि चिल्ला उठता—"अरे! कैसा अंधा होकर चलता है? देख तो सही मुझे कितना कष्ट हो रहा है।" नंदीषेण मुनि को कष्ट न हो, इसके लिए अब और अधिक सँभल-सँभल कर धीरे-धीरे चलने लगा, फिर भी मुनि गालियाँ देता रहा, उसकी सेवा भावना को ढोंग और धूर्तता बताता रहा। किन्तु नंदीषेण सब कुछ सुनकर भी अनसुना करता रहा। मन में क्रोध या आवेश कुछ भी न लाकर सोचता रहा कि "अवश्य ही मुनि को कष्ट हो रहा है और कष्ट में कुछ न कुछ क्षुब्धता हो ही जाती है। इसमें मुनि का क्या दोष? जो दोष है, पीड़ा का है।"

उपाश्रय में लाकर मुनि को आराम से बिठाया। हर प्रकार से उसकी सेवा की और कहा—"मुनिवर! अवश्य ही मैंने आपको बहुत कष्ट दिया है। आपकी सेवा ठीक से नहीं कर सका हूँ, क्षमा करना।"

मुनि नंदीषेण की इस अविचल सेवा-निष्ठा को देख कर देव चकित हो गए। देवों ने अपना देवरूप प्रकट किया और मुनि की सेवापरायणता की प्रशंसा करते हुए बार-बार उनके चरणों में वन्दना करने लगे—"मुनिवर! धन्य है आपकी सेवा-भावना। सेवा में अग्लान भाव, निरहंकार और सरलता, एक से एक बढ़कर! हजार-हजार देवराज इन्द्र भी इसकी प्रशंसा करें तो कम है।"

नंदीषेण सेवा से अमर हो गए और उनकी सेवा संसार में आदर्श बन गई। जैन परंपरा का कथासूत्र कहता है कि यही नंदीषेण मुनि अगले जन्मों में श्री कृष्ण वासुदेव के पिता श्री वसुदेव जी हुए।

—वसुदेव हिंडी (प्रथम लम्बक)

ढंढण ऋषि की तितिक्षा

११

वासुदेव श्री कृष्ण के पुत्र थे ढंढण कुमार। युवावस्था में सहसा ही हृदय में वैराग्य की लौ जल उठी तो संसार से विरक्त हो कर भगवान् नेमिनाथ के चरणों में प्रव्रजित हो गए।

विशाल द्वारिका नगरी में घर-घर भिक्षाटन करते हुए भी ढंढण ऋषि को कहीं शुद्ध आहार प्राप्त नहीं हो सका। राजकुमार की सुकुमार देह दिनभर धूप में भ्रमण करते हुए श्रम से कुम्हला गई थी। भिक्षा न मिलने से मन में भी खिन्नता छा गई। ढंढण ऋषि अपनी मनोव्यथा को लिए भगवान के चरणों में आए। प्रभु ने ढंढण ऋषि के मनोभावों को प्रकट करते हुये कहा—"वत्स! भिक्षा का अलाभ होने से मन को खिन्न न करो। मन की प्रसन्नता ही सबसे बड़ी समाधि है। यह लाभान्तराय तुम्हारे पूर्वकृत कर्म का परिणाम है।"

ढंढण ऋषि ने प्रभु के चरणों में नमस्कार करके पूछा ‘भगवन् ! पूर्व-जन्म में मैंने ऐसा क्या कर्म किया था, जिसका अन्तराय मुझे इस जन्म में हो रहा है ?”

प्रभु ने कहा—“देवानुप्रिय ! अनेक जन्म पूर्व तुम एक राज्य-अधिकारी (नियोगी) थे। तुम्हारी देख-रेख में राजा की खेती होती थी। अनेक किसान व मजदूर तुम्हारे नीचे काम करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि खेत जोतते-जोतते किसान थक कर चूर-चूर हो गए, भयंकर गर्मी में भूख-प्यास से आकुल-व्याकुल हो गए। बैल हल खींचते-खींचते बुरी तरह हाँफने लगे, मारे क्षुधा व तृषा के उनके मुँह में झाग भर आए। मनुष्यों के लिए भोजन और पानी सामने ही रखा हुआ था। बैलों के लिए चारा-दाना भी यथोचित विपुल मात्रा में था। किसान, मजदूर एवं बैल सब टुकर-टुकर उस ओर देख रहे थे, पर तुम थे कि सबको डांटते जा रहे थे कि ‘नहीं, अभी और काम करो, कुछ और करो।’ जब सब हारकर बैठने लगे, तो तुमने कहा—‘अच्छा ! अब एक तास (चाष अर्थात् खूड) और जोत दो, फिर सबको भोजन मिलेगा।’ विचारे पराधीन मजदूर, और मूक बैल

क्या करते ? सबको मरते-मरते भी तुम्हारे आदेश का पालन करना पड़ा। उस समय निर्दयता-पूर्वक श्रम लेने और उन्हें भोजन की अन्तराय देने के कारण तुम्हें तीव्र अन्तरायकर्म का बन्ध हुआ। तुम्हारा वही अन्तराय कर्म इस जन्म में भिक्षा-लाभ में बाधक बन रहा है। भद्र ! यह अपने ही कृत कर्म का भोग है। इसे प्रसन्नतापूर्वक भोगना चाहिए। भिक्षा के अलाभ के बदले में तप का लाभ है। और भिक्षा आज नहीं, तो कल, कल नहीं, तो फिर मिलेगी। आखिर अन्तराय बँधा है तो टूटेगा भी।"

प्रभु की वाणी सुनकर ढंढण ऋषि का मन उद्वेग-रहित हो गया। उन्होंने अभिग्रह किया कि 'अब मैं अपने लाभ से प्राप्त हुआ भोजन ही ग्रहण करूँगा, पर-लाभ से मिला आहार मेरे लिए अग्राह्य है।"

ढंढण ऋषि यथासमय नगर में भिक्षा के लिए जाते, और खाली पात्र लिए लौट कर आ जाते। अपने अभिगृहीत संकल्प के अनुसार उन्हें कहीं शुद्ध आहार का योग नहीं मिलता। दिन-पर-दिन बीतते चले गए। किंतु ऋषि का धैर्य नहीं डोला। रोज भिक्षा के लिए जाना और रोज खाली आ जाना।

फिर भी मन में न उद्वेग ! न पीड़ा ! और न किसी प्रकार की खिन्नता ! अलाभ में भी मन की प्रसन्नता का लाभ बराबर लेते रहते । "आज नहीं मिली तो कल मिल जायेगी, कल नहीं तो फिर कभी मिल जायेगी"—आशावाद के इस महामंत्र के समक्ष कभी निराशा उनके पास नहीं फटकी, उदासी की एक शिकन भी चेहरे पर नहीं आई । न लोगों पर रोष ! न अपने भाग्य पर आक्रोश ! इस प्रकार समता और समाधि में लीन ढंढण ऋषि अद्भुत तपःसाधना में लीन होते चले गए ।

एक बार वासुदेव श्री कृष्ण ने भगवान नेमिनाथ से पूछा—"भगवन् ! आपके हजारों श्रमणों में सबसे कठिन तप करने वाले कौन महाश्रमण हैं ?"

प्रभु ने कहा—"वर्तमान में ढंढण ऋषि कठोर तपश्चरण करने वाला है । वही ढंढण, जो पूर्वावस्था में आपका प्रिय पुत्र रहा है ।"

वासुदेव के मन में प्रभु-प्रशंसित तपस्वी के दर्शन की जिज्ञासा उमड़ी । पूछा—"भगवन् ! ढंढण ऋषि अभी कहाँ हैं ?"

"वासुदेव ! अभी वह भिक्षा के लिए द्वारिका

नगरी में घूम रहा है। नगर में प्रवेश करते समय तुम उसे भिक्षाटन करते देख सकोगे।"

वासुदेव प्रभु के दर्शन करके नगरी की ओर लौटे। नगर-द्वार में प्रवेश करते ही एक कृशकाय, दुर्बल मुनि को भिक्षाटन करते देखा। शिर पर धूप तप रही है, पैरों के नीचे जमीन जल रही है, शरीर पर पसीना चू रहा है, क्षुधा परीषह के कारण ऋषि का पेट और पीठ एक हुआ जा रहा है। किन्तु फिर भी चेहरे पर एक अद्‌भुत तेज है, एक विचित्र आभा चमक रही है! वासुदेव हाथी से नीचे उतरे और अपार श्रद्धा के साथ मुनि के चरणों में वंदना की। हजारों श्रमणों में एक, ऐसे उग्र तपस्वी के दर्शन करके वासुदेव सहसा धन्य-धन्य कह उठे। मन-ही-मन आनन्द सागर की उर्मियाँ तरंगित हो गईं—"यादव जाति धन्य है, जिसमें एक-से-एक महान् तपोधन, त्यागी और वैरागी आत्माएँ साधना के क्षितिज पर निर्मल नक्षत्र-सी चमक रही हैं।"

वासुदेव आगे निकल गए। भव्य प्रासाद के ऊँचे गवाक्ष में से एक परदेशी श्रेष्ठी यह सब देख रहा था। वह चकित-सा रह गया—"इस ऋषि को

वासुदेव श्री कृष्ण जैसे सम्राट् श्रद्धा से नमस्कार कर रहे हैं, तो अवश्य ही यह कोई महामुनि है। ऐसे ऋषि को तो अवश्य ही भिक्षा देनी चाहिए"–श्रेष्ठी के हृदय में प्रेरणा जगी और वह तुरन्त नीचे आकर मुनि को अपने घर में भिक्षा के लिए ले गया। बड़ी भक्ति से मुनि को मोदक (लड्डू) अर्पण करने लगा।

ढंढण ऋषि ने पूछा—"जानते हो, मैं कौन हूँ? किस का पुत्र हूँ?" "नहीं, मुनिवर! मैं नहीं जानता, आप किसके पुत्र हैं? किस वंश और किस जाति के हैं?"

"क्या यह जानते हो, मैं किसका शिष्य हूँ?" "नहीं! भगवन्! यह भी मुझे पता नहीं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि आप मुनि हैं, तपस्वी है, त्यागी हैं।"

ढंढण ऋषि ने समाधान पाया—"यह भिक्षा स्वलाभ की है, परलाभ की नहीं। अभिग्रह पूरा हो रहा है, अन्तराय टूट रही है।" मोदक लिए, और रैवताचल की ओर चरण बढ़ गए।

आज छः महीने में पहली बार ढंढण ऋषि को भिक्षा मिली। वे प्रभु के समीप आये।

"प्रभो ! आज मेरा अभिग्रह फलित हुआ है, छः महीने के अनन्तर मुझे आज शुद्ध भिक्षा का लाभ मिला है।" ढंढण ऋषि ने प्रभु के चरणों में निवेदन किया। सदा की भाँति आज भी उनकी मुखाम्बुजश्री सहज शान्त थी। अभिग्रह फलित होने का कोई हर्ष या औत्सुक्य उनके मुख पर नहीं झलका।

प्रभु ने गम्भीर वाणी में कहा—"भद्र ! यह भिक्षा तुम्हें वासुदेव कृष्ण की लब्धि से प्राप्त हुई है। वासुदेव द्वारा तुम्हारी वन्दना एवं स्तुति किए जाने पर प्रभावित होकर उस श्रेष्ठी ने तुम्हें यह भिक्षादान किया है। अतः यह तुम्हारे अभिग्रह के अनुसार स्व-लाभ नहीं, पर-लाभ ही है।"

प्रभु की वाणी सुनकर ढंढण ऋषि वहीं स्थिर होकर विचार-मग्न हो गए। मन का धैर्य और अधिक प्रखर हो उठा। "प्रभु की निष्पक्ष सत्य वाणी ने आज मुझे प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होने से बचा लिया। जो भिक्षा मेरे अभिग्रह के अनुकूल नहीं, वह अयोग्य है, अग्राह्य है।" ऋषि का अद्भुत संकल्पबल जागृत हो गया। छः महीने से भिक्षा प्राप्त होने पर भी जिसके मुख-मंडल पर प्रसन्नता की एक हल्की रेखा तक नहीं उभरी। उसे भिक्षा का त्याग करते हुए विषाद कैसा ?

मुनि उसी चिर-प्रसन्नता के साथ एकान्त स्थण्डिल भूमि पर गए। एक-एक मोदक का चूरा करते और निःस्पृह भाव से मिट्टी के ढ़ेले के समान उसे भूमि पर डालते। इधर संकल्प की दृढ़ता तीव्र-से-तीव्रतर होती जा रही थी और उधर अन्तर की समाधि और ज्ञान-चेतना की उज्ज्वलता उच्चतम श्रेणी पर पहुंच रही थी। लड्डुओं को चूरते-चूरते ढंढण ऋषि ने जैसे अपने बद्ध कर्मों को भी चूर-चूर कर डाला। हृदय में एक दिव्य प्रकाश जगमगाया और सदा सदा के लिए केवल ज्ञान की अजर अमर ज्योति प्रदीप्त हो गई। देवताओं के दल के दल आकाश में देव-दुन्दुभि बजाते और पुष्प-वृष्टि करते हुये केवल ज्ञानी ढंढण ऋषि की जय-जयकार कर उठे।

अलाभ की स्थिति में भी मन को प्रसन्न, शान्त और समाधिस्थ रखने वाले ढंढण ऋषि का आज भी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

—उत्तराध्ययन टीका २।३०
—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित ८।१०

श्री कृष्ण की गुण ग्राहकता

१२

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी देव-सभा में कहा—"संसार में इस समय श्री कृष्ण जैसा गुणग्राही (गुण दृष्टि) व्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। श्री कृष्ण गुणग्राहकता की उस सर्वोत्तम भूमिका पर हैं कि बुरी-से-बुरी वस्तु में भी अच्छाई के दर्शन कर लेते हैं।"

इन्द्र महाराज के द्वारा इस प्रकार मनुष्य की प्रशंसा एक देवता को अच्छी नहीं लगी। वह तुरन्त इसकी परीक्षा करने को निकल पड़ा।

जिस मार्ग से श्री कृष्ण, भगवान अरिष्टनेमि की वन्दना के लिए, रैवताचल पर्वत की ओर जा रहे थे, उसी मार्ग पर मृत काले हुए कुत्ते का रूप धारण करके वह पड़ गया। कुत्ते का मुँह फटा हुआ था उस से रक्त बह रहा था, शरीर पर कीड़े कुल-बुला रहे थे। और भयंकर दुर्गन्ध फूट रही थी। साथ के सैनिक और अन्य नगर-जन नाक-मुँह बन्द कर छी-छी करने लगे, थूकते हुये इधर-उधर दौड़ने लगे।

श्री कृष्ण ने उस मृत कुत्ते के फटे हुये मुँह में चमचमाती श्वेत-दन्त-पंक्ति देखी, और कहा—"देखो,

इस मृत श्वान की दन्त-पंक्ति कितनी स्वच्छ और निर्मल है, मोती जैसी चमक रही है ? यह कहाँ दन्त-मंजन करता है, फिर भी दाँतों की कितनी अधिक स्वच्छता ? कमाल है भाई !"

दमघोटने वाली दुर्गन्ध की ओर ध्यान नहीं देकर उसकी नगण्य विशेषता (गुण) पर ही ध्यान देने की यह उदार गुण-वृत्ति देखकर देवता चकित हो गया। उसे देवराज द्वारा की गई श्री कृष्ण की प्रशंसा यथार्थ लगी। वह प्रसन्न होकर अपने वास्तविक स्वरूप में आया, श्री कृष्ण को सभक्ति वन्दन किया, एक अशिवोपशमनी दिव्यभेरी भेंट दी और स्वर्ग को लौट गया।

वास्तव में समाज और राष्ट्र का लोकप्रिय नेता वही होता है, जो व्यक्ति के छोटे-से-छोटे गुण का आदर करता है, उसकी विशेषता पर ध्यान देता है। गुण-दृष्टि ही जीवन की श्रेष्ठ कला है। वह दृष्टि ही क्या, जो गुलाब के महकते हुए सुन्दर फूल पर न जाकर उसके काँटों ही में उलझ कर रह जाए।

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी)
—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित ८।१०
—वृहत्कथा कोश कथा ३८ (हरिषेणाचार्य

वासुदेव की दिव्य भेरी | १३

द्वारिका में एक धनाढ्य व्यापारी (श्रेष्ठी) आया हुआ था। एक बार वह भयंकर दाह-ज्वर से पीड़ित हो गया। हजारों उपचार करने पर भी रोग शान्त नहीं हुआ। श्रेष्ठी रात-दिन असह्य पीड़ा से कराहता रहता।

एक बार श्रेष्ठी के किसी मित्र ने बताया कि वासुदेव श्री कृष्ण के भंडार में देवता की दी हुई एक अशिवोपशमनी दिव्य-भेरी है। उसका स्पर्श करने की बात ही क्या, जो एक बार उसका दिव्य-घोष सुन लेता है, उसके भी सब रोग शान्त हो जाते हैं।"

श्रेष्ठी ने आशाभरी नजर से देखा, और कातर स्वर में पूछा—"तो वह कब बजती है ?"

छह-छह महीने के अन्तर से वासुदेव स्वयं उसका घोष करते हैं। अभी कुछ समय पहिले ही तो घोष हुआ था।

सेठ ने लम्बा साँस लिया "उफ........इतने दिन तो यह असह्य पीड़ा नहीं सह सकता। तब तक

तो ये प्राण-पंखी तड़प-तड़प कर कभी के उड़ जायेंगे।"

मित्र ने कहा—"एक उपाय मैं बताता हूँ। भेरी की रखवाली करने के लिए एक सामंत नियुक्त किया हुआ है। उसको किसी भी प्रकार प्रलोभन में लेकर भेरी का एक टुकड़ा ले लिया जाए, तो उसके नित्य-स्पर्श से शरीर की सब व्याधि शान्त हो जाएगी। आपके पास धन की तो कमी नहीं है। संसार में धन से क्या नहीं हो सकता?"

मित्र की बात पर सेठ बहुत प्रसन्न हुआ। भेरी-रक्षक के पास स्वयं पहुंचा और अपनी दु:खगाथा सुनाकर एक लाख स्वर्णमुद्राएँ भेरीरक्षक के सामने डाल दीं। "एक लाख स्वर्ण मुद्रा!"—भेरीरक्षक का हृदय आसमान में उछालें भरने लग गया। सोने की चमक में उसका विवेक लुप्त हो गया। विचार किया—"थोड़ा सा टुकड़ा काटकर देने में क्या नुकसान हैं? दूसरा वैसा ही चन्दन का जोड़ लगा दूँगा, किसी को पता ही न चलेगा। वासुदेव तो छह महीने में एक ही बार देखते हैं, उन्हें क्या मालूम होगा कि भेरी में कुछ परिवर्तन हुआ है? फिर इसका जीवन बचता है, और मेरा जन्मभर का दारिद्र्य मिट रहा है।"

भेरीरक्षक ने बड़ी चतुराई से थोड़ा सा टुकड़ा काटा और चुपचाप श्रेष्ठी को दे दिया।

सेठ का रोग शान्त हो गया। मित्रों में धीरे-धीरे भेरी की बात फैल गई। बात के तो पर होते हैं, उसकी उड़ान का पता नहीं चलता। अब किसी भी सेठ को कोई भी रोग हुआ कि भेरी-रक्षक को मुँहमांगी स्वर्ण मुद्राएँ दीं और एक टुकड़ा ले लिया। भेरी-रक्षक टुकड़े काट-काट कर देता गया और उसकी जगह चन्दन के दूसरे टुकड़े जोड़ कर भेरी को ज्यों-की-त्यों रखता रहा। भेरी क्या रही, चन्दन के टकड़ों की एक विचित्र चन्दनकंथा सी रह गयी।

छह महीने बाद भेरी बजने का समय हुआ। दूर-दूर के हजारों, लाखों रोगी भेरी का दिव्यघोष सुनने के लिए द्वारिका में एकत्र हो गये। वासुदेव ने भेरी लेकर ज्यों ही मुँह पर लगाई, तो सन्न रह गये। घोष ही नहीं फूटा। भेरी को गौर से देखा, तो चालाकी समझ गए। भेरीरक्षक को बुलाया गया। वासुदेव का क्रोध देखकर भेरीरक्षक का तो दम निकला जा रहा था। उसने गिड़गिड़ा कर वासुदेव के चरण पकड़ लिए, और कहा—"महाराज ! सोने की चमक ने मुझे अन्धा कर दिया।

तो ये प्राण-पंखी तड़प-तड़प कर कभी के उड़ जायेंगे।"

मित्र ने कहा—"एक उपाय मैं बताता हूँ। भेरी की रखवाली करने के लिए एक सामंत नियुक्त किया हुआ है। उसको किसी भी प्रकार प्रलोभन में लेकर भेरी का एक टुकड़ा ले लिया जाए, तो उसके नित्य-स्पर्श से शरीर की सब व्याधि शान्त हो जाएगी। आपके पास धन की तो कमी नहीं है। संसार में धन से क्या नहीं हो सकता ?"

मित्र की बात पर सेठ बहुत प्रसन्न हुआ। भेरी-रक्षक के पास स्वयं पहुंचा और अपनी दुःखगाथा सुनाकर एक लाख स्वर्णमुद्राएँ भेरीरक्षक के सामने डाल दीं। "एक लाख स्वर्ण मुद्रा !"—भेरीरक्षक का हृदय आसमान में उछालें भरने लग गया। सोने की चमक में उसका विवेक लुप्त हो गया। विचार किया—"थोड़ा सा टुकड़ा काटकर देने में क्या नुकसान हैं ? दूसरा वैसा ही चन्दन का जोड़ लगा दूँगा, किसी को पता ही न चलेगा। वासुदेव तो छह महीने में एक ही बार देखते हैं, उन्हें क्या मालूम होगा कि भेरी में कुछ परिवर्तन हुआ है ? फिर इसका जीवन बचता है, और मेरा जन्मभर का दारिद्रय मिट रहा है।"

भेरीरक्षक ने बड़ी चतुराई से थोड़ा सा टुकड़ा काटा और चुपचाप श्रेष्ठी को दे दिया।

सेठ का रोग शान्त हो गया। मित्रों में धीरे-धीरे भेरी की बात फैल गई। बात के तो पर होते हैं, उसकी उड़ान का पता नहीं चलता। अब किसी भी सेठ को कोई भी रोग हुआ कि भेरी-रक्षक को मुँहमांगी स्वर्ण मुद्राएँ दीं और एक टुकड़ा ले लिया। भेरी-रक्षक टुकड़े काट-काट कर देता गया और उसकी जगह चन्दन के दूसरे टुकड़े जोड़ कर भेरी को ज्यों-की-त्यों रखता रहा। भेरी क्या रही, चन्दन के टकड़ों की एक विचित्र चन्दनकंथा सी रह गयी।

छह महीने बाद भेरी बजने का समय हुआ। दूर-दूर के हजारों, लाखों रोगी भेरी का दिव्यघोष सुनने के लिए द्वारिका में एकत्र हो गये। वासुदेव ने भेरी लेकर ज्यों ही मुँह पर लगाई, तो सन्न रह गये। घोष ही नहीं फूटा। भेरी को गौर से देखा, तो चालाकी समझ गए। भेरीरक्षक को बुलाया गया। वासुदेव का क्रोध देखकर भेरीरक्षक का तो दम निकला जा रहा था। उसने गिड़गिड़ा कर वासुदेव के चरण पकड़ लिए, और कहा—"महाराज ! सोने की चमक ने मुझे अन्धा कर दिया।

भेरी के टुकड़े काट-काट कर मैंने लोगों को दे दिये और उसकी जगह चन्दन की लकड़ी के टुकड़े जोड दिये।"

श्री कृष्ण के होठ क्रोध से काँप उठे—"दुष्ट थोड़े से लालच में फँसकर लाखों मनुष्यों को जीवन दान करने वाली दिव्य भेरी को तू ने लकड़ी का टुकड़ा बना दिया। ऐसा जघन्य और नीच !"

वासुदेव ने भेरी-रक्षक को अपने राज्य से निकल जाने का आदेश दिया और उन सब लोगों की भी भर्त्सना की, जिन्होंने अपना स्वार्थ साधने के लिए भेरी-रक्षक को सोने की चमक दिखा कर अन्धा बना दिया था। वासुदेव इस बात पर सोचते रह गये "मनुष्य कितना क्षुद्र है कि अपने स्वार्थ के लिये लाखों मनुष्यों को तड़पते रख देता है। कितना दुर्बल है, कि प्रलोभन की थोड़ी सी चिकनाई पर भो सरपट फिसल जाता है।"

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी)
—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र ८।१०
—नन्दीसूत्र वृत्ति, (आचार्य मलयगिरि)

बलभद्र और हरिण | १४

द्वारिका-दहन के साथ ही यादव-जाति का वैभव, धूलिसात् हो गया था। यदुकुलभूषण वासुदेव श्रीकृष्ण व्याध के बाण से मृत्यु-प्राप्त कर चुके थे। यादव-जाति, जो एक दिन संसार में सूर्य की तरह चमक रही थी, और जिसने सागर पर्यन्त विशाल-साम्राज्य स्थापित किया था, वह देखते-ही-देखते अस्ताचल की गोद में सदा-सदा के लिए सो गई। संसार की विनाश-लीला को देखकर बलभद्र (श्रीकृष्ण के बड़े भाई) का हृदय विरक्त हो गया। संसार त्याग करके वे संयम साधना में निःस्पृह और निर्द्वन्द्व भाव से अनेक प्रकार की कठोर तपस्या करते हुए विचरने लगे।

साधु-वेश, मुण्डित-मस्तक, न शोभा और न शृङ्गार ! फिर भी बलभद्र का सहज सौन्दर्य संसार में अद्भुत था। देखने वाला वहीं रुक जाता और आँखों ही आँखों में देखता क्या, एक तरह से रूप को

पीने लग जाता। एक बार मुनि बलभद्र भिक्षा के लिए किसी नगर में प्रवेश कर रहे थे। गाँव के बाहर कुएँ पर कुल-वधुएँ जल भर रही थीं। मुनि बलभद्र को उस ओर आते देखा, तो एक नव-यौवना कुल-वधू पानी भरना भूलकर मुनि की ओर एक टक देखने लगी। देखने में वह ऐसी बेभान पागल हुई कि पानी भरने के लिए रस्सो से घड़ा बांधने की जगह गोद में के लड़के को ही बाँधकर कुएँ में उतारने लगी। मुनि बलभद्र ने इधर दृष्टि उठाई तो युवती का यह पागलपन देखा, व चकित हुए-से निकट आए और बोले—"भोली बहन! यह क्या कर रही हो!"

युवती मुनि के मुख-चन्द्र की ओर देखती रही, बोली—"पानी निकाल रही हूँ।"

मुनि—"पानी किससे निकाल रही हो?"

युवती—"घड़े से।"

मुनि—"धर्मशील बहन! जरा ठीक से देखो।"

युवती ने देखा तो वह मारे लाज से जमीन में गड़ गई।

मुनि बलभद्र ने देखा—"मेरे इस रूप-सौन्दर्य के कारण आज कितना बड़ा अनर्थ होते-होते बच गया।

युवती घड़े की जगह अपने बच्चे को ही बाँधने लग गई, उसे कुछ भान ही न रहा। पता नहीं, नगर में मेरे आने-जाने से ऐसा और भी कोई अनर्थ हो जाए ? अतः अब से नगर में नहीं आना ही अच्छा है।" मुनि नगर से अरण्य की ओर लौट चले।

अब बलभद्र मुनि अरण्यवासी हो गए। जंगल में आते-जाते कभी किसी पथिक से, कभी किसी सार्थवाह से, और कभी किसी लकड़ी काटने वाले लकड़हारे से शुद्ध भिक्षा मिल गई, तो भोजन कर लिया, अन्यथा तप और ध्यान में लीन रहते।

एक बार कोई छोटे-छोटे नुकीले सींगों वाला सुकुमार हरिण अपनी टोली से बिछुड़ कर उस वन-प्रदेश में आ निकला। उसने ध्यान-मुद्रा में स्थित मुनि को देखा तो मन में बड़ी प्रीति जगी। वह बार-बार मुनि के चरणों के पास आता, मुनि की सौम्य मुद्रा को अपलक देखता रहता। शुद्ध और सरल भावों के कारण उसे पूर्व-जन्म की स्मृति (जाति-स्मरण ज्ञान) हो आई। अब तो वह रात-दिन मुनि के निकट में ही रहता। जंगल में कहीं कोई पथिक आदि को आया और भोजन करते देखता तो वह दौड़

कर मुनि के पास आता। मुनि को चलने का संकेत करता। और वहां ले जाता, जहाँ वह भोजन कर रहा होता। कभी-कभी मुनि को भोजन मिल जाता, और कभी यों ही लौट कर आना पड़ता।

एक बार ऐसा हुआ कि एक रथकार (सुथार-खाती) राजा के आदेश से रथ योग्य उत्तम काष्ठ लेने के लिए अपने अनेक साथियों के साथ उस जंगल में आया। उसने एक विशाल शाखों वाला उत्तम जाति का महावृक्ष देखा। दूर-दूर तक उसकी शाखायें फैली थीं। किसी कारण से वह आधा टूटा हुआ भी था, फिर भी बहुत बड़ा था। रथकार ने सोचा इसकी लकड़ी बहुत अच्छी होगी। पहले इसकी छाया में बैठकर भोजन करलें, फिर इसे काटकर ले जायेंगे। यह सोचकर वह अपने साथियों के साथ भोजन करने की व्यवस्था करने लगा।

इधर वह हरिण इन लोगों को भोजन की व्यवस्था करते देख कर मुनि के पास दौड़कर आया। मुनि को भिक्षा के लिए चलने का संकेत करने लगा। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे मुनि। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई विनीत शिष्य गुरू को साथ लिए चला आ रहा है।

रथकार ने मुनि को आते देखा, तो रोम-रोम खिल उठा। सोचा "इस जंगल में महामुनि के दर्शन हो गए, कितना बड़ा सौभाग्य है। मुनि को अपने पास का शुद्ध भोजन देकर अपना जीवन सफल करूँ।" वह यह विचार कर ही रहा था कि मुनि सामने आगए। रथकार ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मनि को भोजन दिया। दान देते हुए रथकार का तन, मन का कण-कण हर्ष से पुलकित हो रहा था।

इधर हरिण भी मुनि को भिक्षा प्राप्त हुई देख कर खुशी से रोमांचित हो उठा। वह मूक भाव से देखता हुआ जैसे कह रहा हो—"महानुभाव! धन्य हो तुम, जो ऐसे महाऋषि को भिक्षा दे रहे हो। काश! मैं भी मनुष्य होता और ऐसे ही मुनिजनों को भिक्षा देता।"

तीनों के हृदय में शुद्ध और शुभ भावों की एक अपूर्व धारा उमड़ रही थी। रथकार की उदात्त-भाव से दान-धारा, मुनि की शान्त भाव से भिक्षा-ग्रहण-धारा, और हरिण की रथकार के सुकृतानुमोदन की धारा—तीनों धाराओं का त्रिवेणी संगम सचमुच ही अन्तर का पाप प्रक्षालन के लिए तीर्थराज बन गया।

कर मुनि के पास आता। मुनि को चलने का संकेत करता। और वहाँ ले जाता, जहाँ वह भोजन कर रहा होता। कभी-कभी मुनि को भोजन मिल जाता, और कभी यों ही लौट कर आना पड़ता।

एक बार ऐसा हुआ कि एक रथकार (सुथार-खाती) राजा के आदेश से रथ योग्य उत्तम काष्ठ लेने के लिए अपने अनेक साथियों के साथ उस जंगल में आया। उसने एक विशाल शाखों वाला उत्तम जाति का महावृक्ष देखा। दूर-दूर तक उसकी शाखायें फैली थीं। किसी कारण से वह आधा टूटा हुआ भी था, फिर भी बहुत बड़ा था। रथकार ने सोचा इसकी लकड़ी बहुत अच्छी होगी। पहले इसकी छाया में बैठकर भोजन करलें, फिर इसे काटकर ले जायेंगे। यह सोचकर वह अपने साथियों के साथ भोजन करने की व्यवस्था करने लगा।

इधर वह हरिण उन लोगों को भोजन की व्यवस्था करते देख कर मुनि के पास दौड़कर आया। मुनि को भिक्षा के लिए चलने का संकेत करने लगा। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे मुनि। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई विनीत शिष्य गुरू को साथ लिए चला आ रहा है।

रथकार ने मुनि को आते देखा, तो रोम-रोम खिल उठा। सोचा "इस जंगल में महामुनि के दर्शन हो गए, कितना बड़ा सौभाग्य है। मुनि को अपने पास का शुद्ध भोजन देकर अपना जीवन सफल करूँ।" वह यह विचार कर ही रहा था कि मुनि सामने आगए। रथकार ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मनि को भोजन दिया। दान देते हुए रथकार का तन, मन का कण-कण हर्ष से पुलकित हो रहा था।

इधर हरिण भी मुनि को भिक्षा प्राप्त हुई देख कर खुशी से रोमांचित हो उठा। वह मूक भाव से देखता हुआ जैसे कह रहा हो—"महानुभाव! धन्य हो तुम, जो ऐसे महाऋषि को भिक्षा दे रहे हो। काश! मैं भी मनुष्य होता और ऐसे ही मुनिजनों को भिक्षा देता।"

तीनों के हृदय में शुद्ध और शुभ भावों की एक अपूर्व धारा उमड़ रही थी। रथकार की उदात्त-भाव से दान-धारा, मुनि की शान्त भाव से भिक्षा-ग्रहण-धारा, और हरिण की रथकार के सुकृतानुमोदन की धारा—तीनों धाराओं का त्रिवेणी संगम सचमुच ही अन्तर का पाप प्रक्षालन के लिए तीर्थराज बन गया।

कर मुनि के पास आता। मुनि को चलने का संकेत करता। और वहां ले जाता, जहाँ वह भोजन कर रहा होता। कभी-कभी मुनि को भोजन मिल जाता, और कभी यों ही लौट कर आना पड़ता।

एक बार ऐसा हुआ कि एक रथकार (सुथार-खाती) राजा के आदेश से रथ योग्य उत्तम काष्ठ लेने के लिए अपने अनेक साथियों के साथ उस जंगल में आया। उसने एक विशाल शाखों वाला उत्तम जाति का महावृक्ष देखा। दूर-दूर तक उसकी शाखायें फैली थीं। किसी कारण से वह आधा टूटा हुआ भी था, फिर भी बहुत बड़ा था। रथकार ने सोचा इसकी लकड़ी बहुत अच्छी होगी। पहले इसकी छाया में बैठकर भोजन करलें, फिर इसे काटकर ले जायेंगे। यह सोचकर वह अपने साथियों के साथ भोजन करने की व्यवस्था करने लगा।

इधर वह हरिण इन लोगों को भोजन की व्यवस्था करते देख कर मुनि के पास दौड़कर आया। मुनि को भिक्षा के लिए चलने का संकेत करने लगा। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे मुनि। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई विनीत शिष्य गुरू को साथ लिए चला आ रहा है।

रथकार ने मुनि को आते देखा, तो रोम-रोम खिल उठा। सोचा "इस जंगल में महामुनि के दर्शन हो गए, कितना बड़ा सौभाग्य है। मुनि को अपने पास का शुद्ध भोजन देकर अपना जीवन सफल करूँ।" वह यह विचार कर ही रहा था कि मुनि सामने आगए। रथकार ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मनि को भोजन दिया। दान देते हुए रथकार का तन, मन का कण-कण हर्ष से पुलकित हो रहा था।

इधर हरिण भी मुनि को भिक्षा प्राप्त हुई देख कर खुशी से रोमांचित हो उठा। वह मूक भाव से देखता हुआ जैसे कह रहा हो—"महानुभाव ! धन्य हो तुम, जो ऐसे महात्रऋषि को भिक्षा दे रहे हो। काश ! मैं भी मनुष्य होता और ऐसे ही मुनिजनों को भिक्षा देता।"

तीनों के हृदय में शुद्ध और शुभ भावों की एक अपूर्व धारा उमड़ रही थी। रथकार की उदात्त-भाव से दान-धारा, मुनि की शान्त भाव से भिक्षा-ग्रहण-धारा, और हरिण की रथकार के सुकृतानुमोदन की धारा—तीनों धाराओं का त्रिवेणी संगम सचमुच ही अन्तर का पाप प्रक्षालन के लिए तीर्थराज बन गया।

कर मुनि के पास आता। मुनि को चलने का संकेत करता। और वहां ले जाता, जहाँ वह भोजन कर रहा होता। कभी-कभी मुनि को भोजन मिल जाता, और कभी यों ही लौट कर आना पड़ता।

एक वार ऐसा हुआ कि एक रथकार (सुथार-खाती) राजा के आदेश से रथ योग्य उत्तम काष्ठ लेने के लिए अपने अनेक साथियों के साथ उस जंगल में आया। उसने एक विशाल शाखों वाला उत्तम जाति का महावृक्ष देखा। दूर-दूर तक उसकी शाखायें फैली थीं। किसी कारण से वह आधा टूटा हुआ भी था, फिर भी बहुत बड़ा था। रथकार ने सोचा इसकी लकड़ी बहुत अच्छी होगी। पहले इसकी छाया में बैठकर भोजन करलें, फिर इसे काटकर ले जायेंगे। यह सोचकर वह अपने साथियों के साथ भोजन करने की व्यवस्था करने लगा।

इधर वह हरिण इन लोगों को भोजन की व्यवस्था करते देख कर मुनि के पास दौड़कर आया। मुनि को भिक्षा के लिए चलने का संकेत करने लगा। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे मुनि। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई विनीत शिष्य गुरू को साथ लिए चला आ रहा है।

रथकार ने मुनि को आते देखा, तो रोम-रोम खिल उठा। सोचा "इस जंगल में महामुनि के दर्शन हो गए, कितना बड़ा सौभाग्य है। मुनि को अपने पास का शुद्ध भोजन देकर अपना जीवन सफल करूँ।" वह यह विचार कर ही रहा था कि मुनि सामने आगए। रथकार ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक मनि को भोजन दिया। दान देते हुए रथकार का तन, मन का कण-कण हर्ष से पुलकित हो रहा था।

इधर हरिण भी मुनि को भिक्षा प्राप्त हुई देख कर खुशी से रोमांचित हो उठा। वह मूक भाव से देखता हुआ जैसे कह रहा हो—"महानुभाव! धन्य हो तुम, जो ऐसे महाऋषि को भिक्षा दे रहे हो। काश! मैं भी मनुष्य होता और ऐसे ही मुनिजनों को भिक्षा देता।"

तीनों के हृदय में शुद्ध और शुभ भावों की एक अपूर्व धारा उमड़ रही थी। रथकार की उदात्त-भाव से दान-धारा, मुनि की शान्त भाव से भिक्षा-ग्रहण-धारा, और हरिण की रथकार के सुकृतानुमोदन की धारा—तीनों धाराओं का त्रिवेणी संगम सचमुच ही अन्तर का पाप प्रक्षालन के लिए तीर्थराज बन गया।

कर मुनि के पास आता। मुनि को चलने का संकेत करता। और वहां ले जाता, जहाँ वह भोजन कर रहा होता। कभी-कभी मुनि को भोजन मिल जाता, और कभी यों ही लौट कर आना पड़ता।

एक बार ऐसा हुआ कि एक रथकार (सुथार-खाती) राजा के आदेश से रथ योग्य उत्तम काष्ठ लेने के लिए अपने अनेक साथियों के साथ उस जंगल में आया। उसने एक विशाल शाखों वाला उत्तम जाति का महावृक्ष देखा। दूर-दूर तक उसकी शाखायें फैली थीं। किसी कारण से वह आधा टूटा हुआ भी था, फिर भी बहुत बड़ा था। रथकार ने सोचा इसकी लकड़ी बहुत अच्छी होगी। पहले इसकी छाया में बैठकर भोजन करलें, फिर इसे काटकर ले जायेंगे। यह सोचकर वह अपने साथियों के साथ भोजन करने की व्यवस्था करने लगा।

इधर वह हरिण इन लोगों को भोजन की व्यवस्था करते देख कर मुनि के पास दौड़कर आया। मुनि को भिक्षा के लिए चलने का संकेत करने लगा। आगे आगे हरिण और पीछे-पीछे मुनि। ऐसा लग रहा था, जैसे कोई विनीत शिष्य गुरू को साथ लिए चला आ रहा है।